कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६२,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, मई १९७४

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री; सह-सम्पादक—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रद्धाञ्जलि !

[हमारे श्रद्धेय सम्पादक महोदय श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी महाराजके प्रति]

'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको यह सूचित करते हुए हमारा हृदय भरा आ रहा है कि हमारे श्रद्धास्पद एवं प्रीतिभाजन, 'कल्याण'रूपी नैयाके खेवनहार श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी महाराज गत वैशाख शु० १४, रविवार तदनुसार ५ मई सन् १९७४ को प्रातः ९ बजकर २२ मिनटपर गोलोकधामवासी हो गये। जिनको निमित्त बनाकर भगवान्‌की मङ्गल प्रेरणा, अहैतुकी कृपा एवं अमोघ शक्तिसे 'कल्याण'का प्रवर्तन हुआ, इसका विकास हुआ और आज यह इस गौरवशाली पदपर प्रतिष्ठित है, वे हमारे परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार तीन वर्ष पूर्व ही चैत्र कृष्ण १० संवत् २०२७ तदनुसार २२ मार्च, १९७१ को अपनी ऐहिकलीला संवरण कर भगवान्‌की नित्यलीलामें लीन हुए थे ! इस प्रकार 'कल्याण'-परिवारको तीन वर्षोंकी अल्पावधिमें दो भीषण प्रहार झेलने पड़े, यह विधिकी विचित्र विडम्बना है !

परमश्रद्धेय श्रीभाईजीके साथ पूज्य श्रीगोस्वामीजीका काया-छाया-जैसा अटूट सम्बन्ध था, अतएव अपने श्रद्धेयके वियोगमें इनके मन-प्राण एवं भौतिक कलेवर—सभी जर्जरित हो गये थे। किसी प्रकार अपने श्रद्धेयके प्रति कर्तव्यबुद्धिकी प्रेरणासे 'कल्याण'के गुरुतम भारको इन्होंने तीन वर्षोंतक बड़ी ही सफलतापूर्वक वहन किया, पर आखिर ढाँचा बिखर ही गया !

पूज्य श्रीगोस्वामीजीका आविर्भाव आचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभकी शिष्य-परम्पराके एक सुसंस्कृत एवं उच्च परिवारमें बीकानेरमें हुआ था। इस सम्प्रदायकी यह विशेषता रही है कि शिष्यगण अपने आचार्योंको भगवद्रूपमें ही मानते रहे हैं। यही हेतु है कि इस सम्प्रदायके ऊँचे-से-ऊँचे भक्तोंकी निष्ठा इस रूपमें व्यक्त हुई है—

> भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो।
> श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो॥

—पूज्य श्रीगोस्वामीजीमें भी यह निष्ठा नैसर्गिक थी और इसी हेतुसे जब परमश्रद्धेय श्रीभाईजीके साथ इनका सम्पर्क हुआ, तब 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'—भगवान् और उनके भक्तमें कोई अन्तर नहीं रह जाता—पर दृढ़ आस्थावान् श्रीगोस्वामीजी महाराजने परमश्रद्धेय श्रीभाईजीको ही अपने जीवनकी बागडोर सौंप दी—अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया। इनका समर्पण उस उच्च भूमिकातक पहुँचा कि उसके समकक्ष कोई उदाहरण आजके अनास्थापूर्ण एवं तर्कप्रधान भौतिक युगमें खोजनेपर भी नहीं मिलेगा ! परम श्रद्धेय श्रीभाईजीके साथ इनका सम्पर्क सन् १९२८ ई० में हुआ था और प्रथम मिलनमें ही श्रीभाईजी इनके मन-प्राणोंपर आसीन हो गये थे, किंतु साथ रहनेकी स्वीकृति प्राप्त हुई सन् १९३४ ई० में और तब ये बीकानेर राज्यके उच्च पदको त्यागकर श्रीभाईजीकी संनिधिमें आ गये एवं 'कल्याण' तथा गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित धार्मिक ग्रन्थोंके सम्पादनमें श्रीभाईजीका हाथ बँटाने लगे। इस भौतिकता-प्रधान युगमें विशुद्ध आध्यात्मिक पत्र 'कल्याण'को भारतके सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रके रूपमें प्रतिष्ठित करनेमें परमश्रद्धेय श्रीभाईजीको मनसा-वाचा-कर्मणा जो सहयोग श्रीगोस्वामीजीने प्रदान किया, उसका मूल्याङ्कन होना सम्भव नहीं है।

'कल्याण'का संदेश अंग्रेजी भाषा-भाषी जनसमुदायतक पहुँचानेके लिये श्रीभाईजीने सन् १९३४में 'कल्याण-कल्पतरु' अंग्रेजी मासिकपत्र निकालना आरम्भ किया और श्रीगोस्वामीजी महाराज उसका सम्पादन करने लगे। 'कल्पतरु' के सम्पादनकालमें इन्होंने गीताप्रेसके संस्थापक परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका-द्वारा उद्भावित गीताकी परम सुन्दर विस्तृत टीका—गीता-तत्त्वविवेचनी, श्रीगोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत महापुराण एवं वाल्मीकीय रामायणके अत्यन्त सुबोध, सुस्पष्ट, प्रामाणिक एवं आदर्श अनुवाद अंग्रेजी-भाषामें प्रस्तुत किये, जिनका देश-विदेशके विद्वानोंने आदरपूरित हृदयसे स्वागत किया है। श्रद्धेय श्रीगोयन्दकाजी एवं श्रीभाईजीके सैकड़ों हिंदी लेखोंका अंग्रेजीभाषामें रूपान्तर भी श्रीगोस्वामीजी महाराजके परिश्रमका ही फल है। पूज्य श्रीगोस्वामीजी संस्कृत, हिंदी एवं अंग्रेजीके प्रकाण्ड पण्डित थे; तीनों भाषाओंपर इनका समान

अधिकार था। 'विद्या ददाति विनयम्'—के ये ज्वलन्त उदाहरण थे। सीधा-सादा वेष, बाल-सुलभ सरलता, आचारनिष्ठा, निरभिमानता, विनयशीलता, यश-लिप्सासे सर्वथा दूर रहना, किसी भी रूपमें परचर्चासे उदासीनता, न जगत्‌का विशेष परिचय प्राप्त करना और न जगत्‌को अपना परिचय देना—ये गुण इनमें स्वाभाविक थे। इनका कण्ठ बड़ा ही मधुर था तथा राग-रागिनियोंका इन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था। विभिन्न उत्सवोंके समय इनके द्वारा गाये गये पद सुनकर समस्त श्रोतागण भावविभोर हो जाते थे। आजके युगमें इन सब विशेषताओंसे विभूषित उदाहरण विरले हैं। श्रीभाईजीके विदा होनेपर 'कल्याण'के सम्पादनका पूर्ण भार सँभालते हुए इन्होंने जो निवेदन लिखा था, उससे इनके हृदयका एक अत्यन्त उज्ज्वल रूप हमारे सामने प्रकट होता है—

"परम भागवत श्रीपोद्दारजीके पार्थिव देह त्यागकर नित्यलीलालीन हो जानेसे 'कल्याण'के सम्पादनका भार मेरे दुर्बल कंधोंपर आ पड़ा है, जिसे वहन करनेमें मैं अपनेको सर्वथा अक्षम अनुभव करता हूँ। अबतक तो 'कल्याण'का सारा भार श्रीपोद्दारजी अकेले ही वहन करते थे। मेरा नाम तो उन्होंने शीलवश मुझे प्रोत्साहन देने और मेरी सम्मानकी वासनाको पूर्ण करनेके लिये ही अपने गौरवशाली नामके साथ जोड़ दिया था। मेरे अंदर न तो साधनका बल है न आध्यात्मिक अनुभव, न त्याग है न तप है, न दैवी सम्पदा है न प्रौढ़ विचार है, न वैसा शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन है, न मेरी लेखनीमें ही शक्ति है। ऐसी दशामें 'कल्याण'-जैसे पत्रके सम्पादकमें जैसी और जितनी योग्यता होनी चाहिये, उसका मैं अपने अंदर सर्वथा अभाव देखता हूँ।"

इतना ही नहीं, वे अपने इस मनोभावको बराबर विभिन्न रूपोंमें व्यक्त करते रहे—

"'कल्याण'की सेवाका मैं अपनेको सर्वथा अनधिकारी मानता हूँ।... 'कल्याण'के कार्यको मैं श्रीभाईजीद्वारा ही हुआ अनुभव करता हूँ; पद-पदपर वे अपने चिन्मय रूपसे इसकी सँभाल करते हैं, अन्यथा मुझ-जैसे अयोग्य, अल्पज्ञ, साधनहीन, तुच्छ व्यक्तिद्वारा यह महान् कार्य सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। मैं स्वयं आश्चर्यचकित हूँ कि कैसे क्या कार्य हो जाता है! उनकी पद-पदपर प्राप्त सँभालको देखते हुए मनको यह विश्वास नहीं होता कि श्रीभाईजी 'कल्याण'से पृथक् हो गये हैं। मैं तो यह मानता हूँ कि 'कल्याण' उनका है, वे 'कल्याण'के हैं, या यों कहें वे 'कल्याण-स्वरूप' ही हो गये हैं। पर फिर भी चर्मचक्षुओंद्वारा उनका दर्शन न होनेसे मन-प्राण व्यथित हो जाते हैं। विधिकी यह विडम्बना है!"

इस प्रकार संतके प्रति समर्पणका जैसा आदर्श श्रीगोस्वामीजी महाराजने उपस्थित किया है, वह सर्वथा अनुपम है, अनूठा है! श्रद्धेय श्रीभाईजीके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए श्रीगोस्वामीजीने लिखा था—'श्रीभाईजीके वियोगको हृदय सहन कर गया, यह मेरी प्रेमशून्यताका प्रमाण है! बस, शेष जीवन श्रीभाईजी और उनके अपने श्रीराधामाधवकी स्मृतिमें बीत जाय, यही अभिलाषा है!' अपनी इस अभिलाषाको लम्बी बीमारीकी अवधिमें इन्होंने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। ये बराबर अपने इष्टदेव श्रीराधामाधव और उनके विशेष कृपापात्र श्रीभाईजीकी ही कृपाका उल्लेख करते और भीषण कष्टको भी प्रसन्न-चित्तसे ही सहन करते रहे। ऐसे निष्ठावान् भक्तकी भावनाका भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु श्रीराधा-माधवने अवश्य आदर किया है—अपने श्रीचरणोंमें इन्हें स्थान दिया है—यह हमारा विश्वास है।

श्रद्धेय श्रीगोस्वामीजीके महाप्रयाणसे न केवल गीताप्रेस, 'कल्याण' एवं 'कल्याण-कल्पतरु' अपितु आध्यात्मिक जगत्‌की अपूरणीय क्षति हुई है। अपनी मङ्गलमयी उपस्थितिसे इन्होंने ७४ वर्षतक इस धराधामको पवित्र किया। श्रीगोस्वामीजी महाराजका भाव-परिवार बहुत विस्तृत है, परंतु लौकिक दृष्टिसे वे अपने पीछे एकमात्र अपनी वृद्धा परमसती धर्मपत्नी छोड़ गये हैं। परम पूजनीया मांजी हमारे लिये पूज्य महाराजजीके ही सदृश पूज्य हैं। भगवान्‌से प्रार्थना है कि वे उन्हें इस महान् दुःखको सहन करनेकी क्षमता और हमें पूज्य श्रीमहाराजजीके आदर्शोंपर चलनेकी शक्ति प्रदान करें।

इन शब्दोंद्वारा हम गीताप्रेस तथा 'कल्याण'-परिवारकी ओरसे अपने श्रद्धेय बन्धुके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं!

उनका ही अपना—

पाण्डेय रामनारायणदत्त

सह-सम्पादक

परम शरण्य श्रीराम
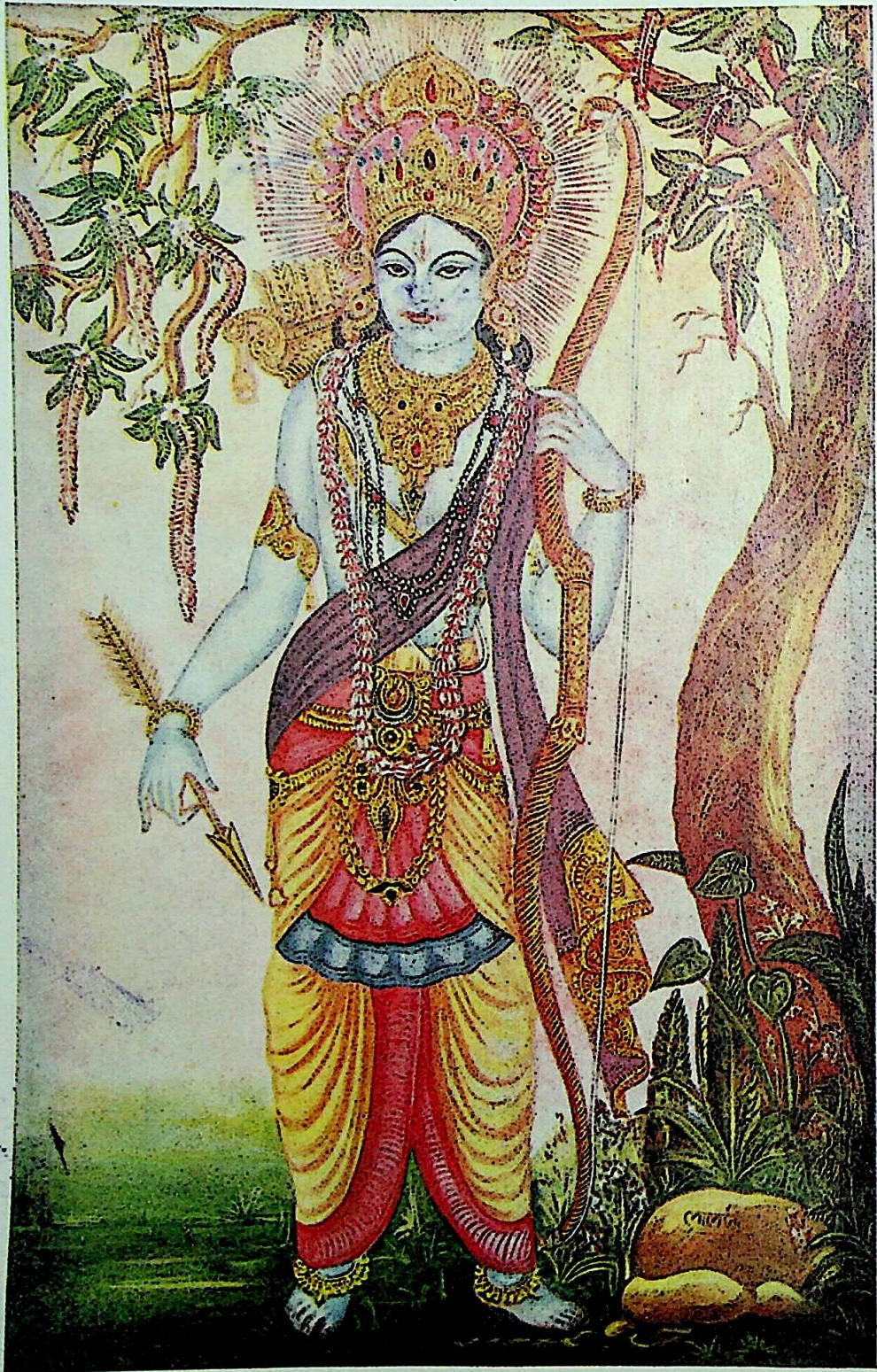
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यं निर्जरासुरनरा अखिलार्थसिद्ध्यै भूयन्तरायहतयेऽनुदिनं नमन्ति ।
तं भक्तकामपरिपूरणकल्पवृक्षं भक्त्या गणेशमखिलार्थदमानतोऽस्मि ॥

वर्ष ४८ | गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, मई, १९७४ | संख्या ५ पूर्ण संख्या ५७०

श्रीरामसे प्रार्थना

हे राम ! भद्राश्रय ! हे कृपालो !
हे भक्तलोकैकशरण्यमूर्ते !
पुनीहि मां त्वच्चरणारविन्दं
जगत्पवित्रं शरणं ममास्तु ॥
(श्रीरामकर्णामृत, ४ । ८२)

हे श्रीराम ! हे कल्याणधाम ! हे कृपालो ! हे भक्तजनोंके एकमात्र शरणदाता ! मुझे पवित्र कीजिये । जगत्को पवित्र करनेवाला आपका चरणारविन्द ही मुझे शरण देनेवाला हो ।

कल्याण

हमारी भारतीय संस्कृतिके अनुसार आधिभौतिक जीवनके सभी व्यवहार-व्यापार आध्यात्मिक भित्तिपर चलने चाहिये। भारतीय धर्म किसी स्थान, समय, वर्ग और क्रिया-विशेषमें आबद्ध या सीमित नहीं है। हमारा प्रत्येक स्थल 'धर्मस्थान' है और प्रत्येक कर्म 'धर्म' है। हमारे धर्मका स्वरूप है—'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह 'धर्म' है। यहाँ 'अभ्युदय'का अभिप्राय बड़ा व्यापक है। हमारे यहाँके महापुरुषोंद्वारा निर्णीत और अनुभूत यह सिद्धान्त है कि केवल चेतन ही नहीं, जड-चेतनात्मक समस्त भूतजगत् एक ही आत्मा या भगवान्‌का स्वरूप है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमदनन्यः॥
(श्रीमद्भागवत, ११।२।४१)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता, ६।२९)

—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी-समुद्र—सभी भगवान्‌के शरीर हैं; ऐसा समझकर सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करें। समस्त प्राणियोंमें आत्मा है और समस्त प्राणी आत्मामें हैं—योगयुक्तात्मा समदर्शी योगी इस प्रकार देखता है।

अतएव जिसमें सबका हित हो, सबका मङ्गल-कल्याण हो तथा सभी प्राणी अपने-अपने क्षेत्रोंमें सब प्रकारसे यथायोग्य, अभावरहित, निर्दोष मनोरथको प्राप्त हों—ऐसा सर्वोदय, विश्वोदय या आत्मोदय ही वास्तविक 'अभ्युदय' है। इस धर्मका दूसरा अवश्यम्भावी परिणाम है—निःश्रेयस, अर्थात् परमकल्याणकी प्राप्ति। अतएव इस धर्ममें दीक्षित प्रत्येक मानवका कर्तव्य है—अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक ही विश्वरूप तथा विश्वातीत भगवान्‌की पूजा करके जीवनकी परम सिद्धि—पूर्ण सफलताको प्राप्त करना। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता, १८।४६)

जिससे जीव सकल निकले हैं, जो सबमें रहता है व्याप्त।
मनुज पूज उसको स्वकर्मसे, होता परम सिद्धिको प्राप्त॥

—इस दृष्टिसे साधारण झाड़ू लगानेसे लेकर अत्यन्त दायित्वपूर्ण शासन-सत्ताके संचालनतक, मामूली मजदूरीसे लेकर बड़े भारी स्वामित्वके कर्तव्यपालनतक, प्रारम्भिक शिक्षासे लेकर निगूढ़तम परमोच्च वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक शिक्षातक, एक चींटीको भी दुःख न पहुँचानेकी वृत्तिसे लेकर प्रत्यक्षमें दीखनेवाले घोर हिंसासे समन्वित धर्मयुद्धतक—सभी (निपुण अभिनेताके द्वारा अभिनीत अभिनयकी भाँति) भगवान्‌की सेवाके लिये होनेवाले कर्म 'धर्म' हो जाते हैं। उन सबके मूलमें रहती है—भगवत्-सेवाकी महती प्रेरणा और उनका लक्ष्य होता है—भगवत्-प्रीति-सम्पादन। हमारे यहाँ भगवत्सेवाकी भावनासे अपने अध्यात्मस्वरूपकी रक्षा करते हुए विश्वासघाती, पथभ्रष्ट आततायीके साथ धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होना और उसे पापवृत्तिसे मुक्त करके निर्दोष बनानेके लिये उसपर विजय प्राप्त करना भी उसकी सेवा ही करना है।

यह हमारा चिरन्तन आदर्श है। हमारे भारतीय संतोंकी यही अपने जीवनके द्वारा प्रदर्शित सत्-शिक्षा है कि प्रगति करो, पर व्यक्तिगत स्वार्थ न रखो; कर्म भलीभाँति करो (कर्म समाचार), परंतु करो तदर्थ—यज्ञार्थ—सेवाके लिये और करो मुक्तसङ्ग—आसक्तिसे रहित होकर; तथा भोग करो, परंतु करो त्यागपूर्वक। त्याग हमारे जीवनका आदर्श था। वस्तुतः त्यागके बिना प्रेम नहीं हो सकता और प्रेमके बिना सुख नहीं मिल सकता। आजके विश्वमें त्यागका अभाव बढ़ता जा रहा है, इसीसे सर्वत्र प्रेमका अभाव होकर क्षुद्र स्वार्थकी गंदी सीमासे मनुष्य अपनेको आबद्ध कर रहा है। इसीका परिणाम है—सर्वत्र कलह, द्वेष, द्रोह, संघर्ष, युद्ध और विनाश तथा अशान्तिमय जीवन।

हम अपनी संस्कृति एवं धर्मके मूल तत्त्वोंको हृदयङ्गम करें और सेवा तथा त्यागको जीवनमें अपनावें। 'भाईजी'

—— ——

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

कर्म-मीमांसा

मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है और उसकी बुद्धिकी वृत्ति भी प्रायः कर्मानुसार होती है। कर्मोंके अनुसार बने हुए स्वभावके अनुकूल ईश्वरीय सत्तासे ही मनुष्य किसी भी क्रियाके करनेमें समर्थ होता है। ईश्वरीय सत्ता, शक्ति, चेतना, स्फूर्ति और प्रेरणाके अभावमें क्रिया असम्भव है। इस न्यायसे सब कुछ ईश्वर ही करता है—यह भी युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ होनेपर भी कर्मोंके फलको न्यूनाधिक नहीं करता। इतना सब होते हुए भी ईश्वरके भजनकी बड़ी आवश्यकता है। इस विषयका विवेचन करनेसे पहले 'कर्म क्या है?', 'उसका भोग किस तरह होता है?', 'कर्मफलभोगमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र?' आदि विषयोंपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

शास्त्रकारोंने कर्म तीन प्रकारके बतलाये हैं—(१) संचित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। अब इनपर अलग-अलग विचार कीजिये—

संचित कर्म

संचित कहते हैं अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके संगृहीत कर्मोंको। मन, वाणी, शरीरसे मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जबतक क्रियारूपमें रहता है, तबतक क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल संचित बन जाता है। जैसे एक किसान चिरकालसे खेती करता है। खेतीमें जो अनाज उत्पन्न होता है, उसे वह एक कोठेमें जमा करता रहता है। इस प्रकार बहुत-से वर्षोंका विविध प्रकारका अनाज उसके कोठेमें भरा है। खेती पकते ही नया अनाज उस कोठेमें फिर आ जाता है। इसमें खेती करना कर्म है और अनाजसे भरा हुआ कोठा उसका संचित है। ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदयरूप बृहत् भण्डारमें जमा हो जाना संचित है। मनुष्यकी इस अपार संचित कर्मराशिमेंसे, पुण्य-पापके बड़े ढेरमेंसे कुछ-कुछ अंश लेकर जो शरीर बनता है, उसमें भोगनेपर ही नाश होनेवाले कर्मोंके अंशका नाम प्रारब्ध होता है। इसी प्रकार जबतक संचित अवशेष रहता है, तबतक प्रारब्ध बनता रहता है। जबतक इस अनेकजन्मार्जित कर्मसंचयका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। संचितसे स्फुरणा, स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे पुनः संचित और संचितके अंशसे प्रारब्ध। इस प्रकार कर्मप्रवाहमें जीव निरन्तर बहता ही रहता है। संचितके अनुसार ही बुद्धिकी वृत्तियाँ होती हैं। यानी संचितके ही कारण उसीके अनुकूल हृदयमें कर्मोंके लिये प्रेरणा होती है। सात्त्विक, राजस या तामस, समस्त स्फुरणाओं या कर्मप्रेरणाओंका प्रधान कारण 'संचित' ही है। यह अवश्य जान रखनेकी बात है कि संचित केवल प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करनेके लिये मनुष्यको बाध्य नहीं कर सकता। कर्म करनेमें वर्तमान समयके कर्म ही, जिन्हें 'पुरुषार्थ' कहते हैं, प्रधान कारण हैं। यदि पुरुषार्थ संचितके अनुकूल होता है तो वह संचितद्वारा उत्पन्न हुई कर्मप्रेरणामें सहायक होकर वैसा ही कर्म करा देता है; प्रतिकूल होता है तो उस प्रेरणाको रोक देता है। जैसे किसीके मनमें बुरे संचितसे चोरी करनेकी स्फुरणा हुई, दूसरेके धनपर मन चला, परंतु अच्छे सत्सङ्ग, विचार और शुभ वातावरणके प्रभावसे वह स्फुरणा वहीं दबकर नष्ट हो गयी। इसी प्रकार शुभ संचितसे दानकी इच्छा हुई, परंतु वह भी वर्तमानके कुसङ्गियोंकी बुरी सलाहसे दबकर नष्ट हो गयी। अभिप्राय यह कि कर्म होनेमें वर्तमान पुरुषार्थ ही प्रधान कारण

है। इस समयके शुभ सङ्ग और शुभ विचारजनित कर्मोंके नवीन शुभ संचित बनकर पुराने संचितको दबा देते हैं, जिससे पुराने संचितके अनुसार स्फुरणा बहुत कम होने लगती है।

किसानके कोठेमें वर्षोंका अनाज भरा है; अबकी बार किसानने नयी खेतीका अनाज उसमें और भर दिया; अब यदि उसे अनाज निकालना होगा तो सबसे पहले वही निकलेगा जो नया होगा; क्योंकि वही सबसे आगे है। इसी प्रकार संचितके विशाल ढेरमेंसे सबसे पहले उसीके अनुसार मनमें स्फुरणा होगी जो संचित नये-से-नये कर्मका होगा। मनमें मनुष्यके बहुत विचार भरे हैं, परंतु उसे अधिक स्मृति उन्हीं विचारोंकी होती है, जिनमें वह अपना समय वर्तमानमें विशेष लगा रहा है। एक आदमी साधुसेवी है, परंतु कुसङ्गवश वह नाटक देखने लगा, इससे उसे नाटकोंके दृश्य ही याद आने लगे। जिस तरहकी स्फुरणा मनुष्यके मनमें होती है, यदि पुरुषार्थ उसके प्रतिकूल नहीं होता, तो प्रायः उसीके अनुसार वह कर्म करता है, कर्मका वैसा ही नया संचित होता है, उससे फिर वैसी ही स्फुरणा होती है। पुनः वैसे ही कर्म बनते हैं। नाटक देखनेसे उसीकी स्मृति हुई, फिर देखनेकी स्फुरणा हुई, सङ्ग अनुकूल था, अतः पुनः देखने गया, पुनः उसीकी स्मृति और स्फुरणा हुई, पुनः नाटक देखने लगा। यों होते-होते तो मनुष्य साधुसेवारूपी सत्कर्मको छोड़ बैठा और धीरे-धीरे उसकी बात भी वह प्रायः भूल गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्सङ्ग, सदुपदेश, सद्विचार आदिसे उत्पन्न वर्तमान कर्मोंसे पूर्वसंचितकी स्फुरणाएँ दब जाती हैं। इसीसे यह कहा जाता है कि मनुष्य संचितके संग्रह, परिवर्तन और उसकी क्षय-वृद्धिमें प्रायः स्वतन्त्र है।

अन्तःकरणमें कुछ स्फुरणाएँ प्रारब्धसे भी होती हैं। यद्यपि यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन-सी स्फुरणा संचितकी है और कौन-सी प्रारब्धकी परंतु साधारणतः यों समझना चाहिये कि जो स्फुरणाएँ या वासनाएँ नवीन पाप-पुण्यके करनेमें हेतुरूप होती हैं, उनका कारण संचित है और जो केवल सुख-दुःख भुगतानेवाली होती हैं, वे प्रारब्धसे होती हैं। प्रारब्धसे होनेवाली वासनासे सुख-दुःखोंका भोग मानसिक रूपसे सूक्ष्म शरीरको भी हो सकता है और स्थूल शरीरके द्वारा क्रिया होकर भी हो सकता है; परंतु इस प्रारब्धसे उत्पन्न वासनाके परिवर्तनकी स्वतन्त्रता मनुष्यको नहीं है।

प्रारब्धकर्म

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाप-पुण्यरूप संचितके कुछ अंशसे एक जन्मके लिये भोग भुगतानेके उद्देश्यसे प्रारब्ध बनता है। यह भोग दो प्रकारसे भोगा जाता है—मानसिक वासनासे और स्थूल शरीरकी क्रियाओंसे। स्वप्नादिमें या अन्य समय जो तरह-तरहकी वृत्ति-तरंगें चित्तमें उठती हैं, उनसे जो सुख-दुःखका भोग होता है, वह मानसिक है। एक व्यापारीने अनाज खरीदा। मनमें आया कि अबकी बार इस अनाजमें इतना नफा हो गया तो जमीन खरीदकर मकान बनवाऊँगा। नफेके कई कारणोंकी कल्पना भी हो गयी। मन आनन्दसे भर गया। दूसरे ही क्षण मनमें आया कि यदि कहीं भाव मंदा हो गया, घाटा लगा तो महाजनकी रकम भरनेके लिये घर-द्वार बेचनेकी नौबत आ जायगी। मनमें चिन्ता हुई, चेहरा उतर गया। चित्तमें इस तरहकी सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाली विविध तरंगें क्षण-क्षणमें उठा करती हैं। ऊपरका सारा साज-सामान ठीक है, दुःखका कोई कारण नजर नहीं आता, परंतु मानसिक चिन्तासे मनुष्य बहुधा दुःखी देखे जाते हैं। लोगोंको उनके चेहरे उतरे हुए देखकर आश्चर्य होता है। इसी प्रकार सब प्रकारके बाह्य अभावोंमें

दुःखके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी मानसिक प्रसन्नतासे समय-समयपर मनुष्य सुखी होते हैं। पुत्रकी मृत्युपर रोते हुए मनुष्यके मुखपर भी चित्त-वृत्तिके बदल जानेसे क्षणभरके लिये हँसीकी रेखा देखी जाती है। यह भी प्रारब्धका मानसिक भोग है।

प्रारब्ध भोगका दूसरा प्रकार सुख-दुःखरूप इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंका प्राप्त होना है। सुख-दुःखरूप प्रारब्ध-का भोग तीन प्रकारसे होता है, जिनको अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छा प्रारब्ध कहते हैं।

अनिच्छा-प्रारब्ध—राह चलते हुए मनुष्यपर किसी मकानकी दीवारका टूटकर गिर पड़ना, बिजलीका गिर जाना, वृक्षका टूट पड़ना, घरमें बैठे हुए मनुष्य पर छतका टूट पड़ना, हाथसे अकस्मात् बंदूक छूटकर गोलीका लग जाना आदि दुःखरूप और राह चलते हुएको रत्न मिल जाना, खेत जोतनेवालेको जमीनसे धन मिलना आदि सुखरूप भोग, जिनके प्राप्त करनेकी न मनमें इच्छा की थी और न किसी दूसरेकी ही ऐसी इच्छा थी—इस प्रकारसे अनायास दैवयोगसे आप-से-आप सुख-दुःखादिरूप भोगोंका प्राप्त होना 'अनिच्छा-प्रारब्ध' है।

परेच्छा-प्रारब्ध—सोये हुए मनुष्यपर चोर-डाकुओंका आक्रमण होना, जान-बूझकर किसीके द्वारा दुःख दिया जाना आदि दुःखरूप और कुमार्गमें जाते हुएको सत्पुरुषका रोककर बचा देना, कुपथ्य करते हुए रोगीके हाथ पकड़कर वैद्य या मित्रद्वारा उसका रोका जाना, बिना ही इच्छाके दूसरेके द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग, जो दूसरोंकी इच्छासे प्राप्त होते हैं, उनका नाम 'परेच्छा-प्रारब्ध' है। इसमें एक बात बहुत समझनेकी है। एक मनुष्यको किसीने चोट पहुँचायी या किसी मनुष्यने किसीके घरमें चोरी की; इसमें उस मनुष्यको चोट लगना या उसके घरमें चोरी होना तो उसके प्रारब्धका भोग है, परंतु जिसने आघात पहुँचाया और चोरी की, उसने अवश्य ही नवीन कर्म किया है, जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा; क्योंकि किसी भी कर्मके भोगका हेतु पहलेसे निश्चित नहीं होता। यदि हेतु निश्चित हो जाय और वह विधान कर दिया जाय कि अमुक पुरुष अमुकके घरमें चोरी करेगा, अमुकको चोट पहुँचायेगा तो फिर ऐसे लोग निर्दोष ठहरते हैं; क्योंकि वे तो ईश्वरी विधानके वश होकर चोरी-डकैती आदि करते हैं। यदि यही बात है तो फिर ऐसे लोगोंके लिये शास्त्रोंमें दण्डविधान और इन कर्मोंके फल-भोगकी व्यवस्था क्यों है?

इसलिये यह मानना चाहिये कि फलभोगके सभी हेतु पहलेसे निश्चित नहीं रहते। जिस क्रियामें कोई अन्याय या स्वार्थ रहता है, जो आसक्तिसे की जाती है, वह क्रिया अवश्य नवीन कर्म है। हाँ, यदि ईश्वर किसी व्यक्तिविशेषको ही किसीके मारनेमें हेतु बनाना चाहे, तो वे फाँसीका दण्ड पाये हुए व्यक्तिको फाँसीपर चढ़ाने-वाले न्यायकर्ममें नियुक्त जल्लादकी भाँति किसीको हेतु बना सकते हैं। हो सकता है, उस फाँसी चढ़ानेवालेको चढ़नेवाला पूर्वके किसी जन्ममें मार चुका हो या यह भी हो सकता है कि उससे उसका कोई सम्बन्ध ही न हो और वह केवल न्याययुक्त कर्म ही करता हो।

स्वेच्छा-प्रारब्ध—ऋतुकालमें भार्यागमनादिद्वारा सुख प्राप्त होना, उससे पुत्र होना, न होना या होकर मर जाना, न्याययुक्त व्यापारमें कष्ट स्वीकार करना उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि 'स्वेच्छा-प्रारब्ध' है। इन कर्मोंके करनेके लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है, उसका कारण प्रारब्ध है। तदनन्तर क्रिया होती है। क्रियाका सिद्ध होना न होना; सुकृत-दुष्कृतका फल है।

स्वेच्छा—प्रारब्धके भोगोंके कारणको समझ लेना बड़ा ही कठिन विषय है। बड़े सूक्ष्म विचार और भाँति-

भाँतिके तर्कोंका आश्रय लेनेपर भी निश्चितरूपसे यह कहना नितान्त कठिन है कि अमुक फलभोग हमारे पूर्वजन्मकृत अमुक कर्मोंका फल है, जो उनकी प्रेरणासे मिला है, या इसी जन्मका कोई कर्म हाथों-हाथ संचितसे प्रारब्ध बनकर इसमें कारण हुआ है ।

एक मनुष्यने पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि या धनलाभके लिये किसी यज्ञका अनुष्ठान किया । तदनन्तर उसे पुत्र या धनकी प्राप्ति हुई । इस पुत्र या धनकी प्राप्तिमें यज्ञ कारण है या पूर्वजन्मकृत कर्म कारण है—इसका यथार्थ निर्णय करना कठिन है । सम्भव है कि उसे पुत्र, धन पूर्वजन्मकृत कर्मके फलरूपमें मिला हो और वर्तमानके यज्ञका फल आगे मिले अथवा क्रियावैगुण्यसे उसका फल नष्ट हो गया हो । एक आदमी रोगनिवृत्तिके लिये औषध-सेवन करता है । उसकी बीमारी मिट जाती है । इसमें यह समझना कठिन है कि यह उस औषधका फल है या भोग समाप्त होनेपर स्वतः ही 'काकतालीय' न्यायवत् ऐसा हो गया है ।* तथापि यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी हो, है सब स्वेच्छाकृत कर्मोंके प्रारब्धका फल । कर्मोंका फल अभी हो या आगे हो, यह कोई नियत बात नहीं है । सर्वथा ईश्वराधीन है, इसमें जीवकी पूर्ण परतन्त्रता है । इस जीवनमें पाप करनेवाले लोग धन-पुत्र-मानादिसे सुखी देखे जाते हैं (यद्यपि उनमें कितनोंको मानसिक दुःख बहुत भारी हो सकता है, जिसका हमें पता नहीं) और पुण्य करनेवाले मनुष्य सांसारिक पदार्थोंके अभावसे दुःखी देखे जाते हैं (उनमें भी कितने ही मानसिक सुखी होते हैं), जिससे पाप-पुण्यके फलमें लोगोंको संदेह होता है, वहाँ यह समझ रखना चाहिये कि उनके वर्तमान बुरे-भले कर्मोंका फल आगे मिलनेवाला है । अभी पूर्वजन्मकृत कर्मोंका अच्छा-बुरा फल प्राप्त हो रहा है ।

कहा जाता है कि जो कर्म अधिक बलवान् होता है उसका फल तुरंत होता है और जो साधारण है, उसका विलम्बसे होता है; परंतु यह नियम भी सब जगह लागू पड़ता नहीं देखा जाता; अतएव यहाँ यही कहना पड़ता है कि त्रिकालदर्शी जगन्नियन्ता परमात्माके सिवा तर्क-युक्तियोंके बलपर मनुष्य स्वेच्छा-प्रारब्धका निर्णय नहीं कर सकता । कर्म और फलका संयमन करनेवाले ईश्वरकृपासे लोग अपनी योगशक्तिके द्वारा कुछ जान सकते हैं ।

क्रियमाण कर्म

अपनी इच्छासे जो बुरे-भले नवीन कर्म किये जाते हैं, उन्हें 'क्रियमाण' कहते हैं । क्रियमाण कर्मोंमें प्रधान हेतु संचित है । कहीं-कहीं अपना या पराया प्रारब्ध भी हेतु बन जाता है । क्रियमाण कर्ममें मनुष्य ईश्वरके नियमोंसे बँधा होनेपर भी क्रिया सम्पन्न करनेमें प्रायः स्वतन्त्र है । नियमोंका पालन करना, न करना उसके अधिकारमें है । इसीसे उसे फलभोगके लिये भी बाध्य होना पड़ता है ।

यदि कोई यह कहे कि हमारे द्वारा जो अच्छे-बुरे कर्म हो रहे हैं, सो सब ईश्वरेच्छा या प्रारब्धसे होते हैं तो उसका ऐसा कहना भ्रमात्मक है । पुण्य-पाप करानेमें ईश्वर या प्रारब्धको हेतु माननेसे प्रधानतः चार दोष आते हैं, जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु, न्यायकारी और उदासीन ईश्वरके लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं ।

* बीमारी पूर्वकृत पापके फलस्वरूप भी होती है और इस समयके कुपथ्य-सेवनादिसे भी । कुपथ्यादिसे होनेवाली बीमारी प्रायः औषधसे नष्ट हो जाती है, पर कर्मजन्य रोग भोग समाप्त होनेतक दूर नहीं होता; परंतु इस बातका निर्णय होना कठिन है कि कौन-सी बीमारी कर्मजन्य है और कौन-सी कुपथ्यजन्य । इसलिये औषध-सेवन सभी बीमारियोंमें करना चाहिये ।

(१) जब ईश्वर या प्रारब्ध ही बुरे-भले कर्म कराते हैं, तब विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है ? 'सत्यं वद', 'धर्मं चर' (तै० उ० १ । ११ । १) 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्यदेवो भव ।' (तै० उ० १ । ११ । २) और 'सुरां न पिबेत्, परदारान्नाभिगच्छेत्' आदि विधि-निषेधमय वाक्योंका उल्लङ्घन कर मनमाना यथेच्छाचार करनेवाले पाप-परायण व्यक्ति यह अनायास कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके नियन्ता ईश्वरकी प्रेरणासे ही ऐसा कर रहे हैं । अतएव ईश्वरपर शास्त्र-हननका दोष आता है ।

(२) जब ईश्वर ही सब प्रकारके कर्म करवाता है, तब उन कर्मोंका फल सुख-दुःख हमें क्यों होना चाहिये ? जो ईश्वर कर्म करवाता है, उसे ही फलभोगका दायित्व भी स्वीकार करना चाहिये । ऐसा न करके वह ईश्वर अपना दोष दूसरोंपर डालनेके लिये दोषी ठहरता है ।

(३) ईश्वरके न्यायकारी और दयालु होनेमें दोष आता है; क्योंकि कोई भी न्यायकर्ता पापके दण्डविधानमें पुनः पाप करनेकी व्यवस्था नहीं दे सकता । यदि पाप करनेकी व्यवस्था कर दी तो फिर पापियोंके लिये दण्ड-की व्यवस्था करना अन्याय सिद्ध होता है । एवं यदि ईश्वर ही पाप करवाता है—पापमें हेतु बनता है और फिर दण्ड देता है, तब तो अन्यायी होनेके साथ ही निर्दयी भी बनता है ।

(४) ईश्वर ही जब पापीके लिये पुनः पाप करनेका विधान करता है, तब जीवके कभी पापोंसे मुक्त होनेका तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता । पापका फल पाप, उसका फल पुनः पाप—इस तरह जीव पापमें ही प्रवृत्त रहनेके लिये बाध्य होता है, जिससे एक तो अनवस्थाका दोष और दूसरे ईश्वर जीवोंको पाप-बन्धनमें रखना चाहता है, यह दोष आता है । अतः यह मानना उचित नहीं कि ईश्वर पाप-पुण्य करवाते हैं । पाप-कर्मके लिये तो ईश्वरकी कभी प्रेरणा ही नहीं होती, पुण्यके लिये—सत्कर्मोंके लिये ईश्वरका आदेश है; परंतु उसका पालन करना न करना या विपरीत करना हमारे अधिकारमें है । सरकारी अफसर कानूनके अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षणका अधिकारी है, परंतु अधिकारारूढ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकारमें है, यद्यपि वह कानून-से बँधा है तथा कानून तोड़नेपर दण्डका पात्र ही होता है, वही हालत कर्म करनेमें मनुष्यके अधिकारकी है ।*

ईश्वर सामान्यरूपसे सन्मार्गका नित्य प्रेरक होनेके कारण जीवके कल्याणमें सहायक होता है । पापकर्मोंके होनेमें प्रधान हेतु निरन्तर विषयचिन्तन है । इसीसे रजोगुण-समुद्भूत कामकी उत्पत्ति होती है, उस कामसे ही क्रोध आदि दोष उत्पन्न होकर जीवकी अधोगतिमें कारण होते हैं । भगवान्‌ने कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है । कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो

* इस विषयका विशेषविवेचन तत्त्व-चिन्तामणि भाग १ के 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' शीर्षक लेखमें किया गया है । वहाँ देखना चाहिये ।

जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि पापकर्मोंके होनेमें विषयचिन्तनजनित राग—आसक्ति प्रधान कारण है, ईश्वर या प्रारब्ध नहीं । चिन्तन या स्फुरण क्रियमाणके—नवीन कर्मके नवीन संचितके अनुसार पहले होता है । अतः पापोंसे बचनेके लिये नवीन शुभ कर्म करनेकी आवश्यकता है । नवीन शुभ कर्मोंसे शुभ संचित होकर शुभका चिन्तन होगा, जिससे शुभ कर्मोंके होने और अशुभके रुकनेमें सहायता मिलेगी । इसीलिये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने पुरुषार्थद्वारा पापकर्मके कारण रागरूप रजोगुणसे उत्पन्न कामका नाश करनेकी आज्ञा दी है । अर्जुनने भगवान्से पूछा—

> **अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।**
> **अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥**
> (गीता ३ । ३६)

'हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

इसके उत्तरमें भगवान् बोले कि—

> **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।**
> **महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥**
> (गीता ३ । ३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला, अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ।'

आगे चलकर भगवान्ने धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भकी भाँति ज्ञानको ढकनेवाले इस दुष्पूरणीय अग्निसदृश कामके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको बतलाकर इन्द्रियोंको वशीभूत करके ज्ञान-विज्ञान-नाशक पापी कामको मारनेकी आज्ञा दी । यदि कामको जय करनेमें जीव समर्थ न होता तो उसके लिये भगवान्की ओरसे इस प्रकारकी आज्ञाका दिया जाना नहीं बन सकता । अतएव भगवान्के आज्ञानुसार शुभ कर्म, शुभ सङ्गति करनेसे क्रियमाण शुद्ध हो जाते हैं । ये क्रियमाण ही संचित और प्रारब्धके हेतुभूत हैं । इसलिये मनुष्यको क्रियमाण शुभ करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि इन्हींके करनेमें यह स्वतन्त्र है ।

श्रीव्रजराज-दुलारेसे प्रार्थना

टेर सुनों व्रजराज-दुलारे ।
दीन मलीन हील सब गुनते, आय पर्‌यो हौं द्वार तिहारे ॥ टेर ॥
काम क्रोध अरु कपट मोह मद, सो जाने निज प्रीतम प्यारे ।
भ्रमत रह्यौं सँग इन विषयन के, तुव पदकमल न मैं उर धारे ॥ १ ॥
कौन कुकर्म किये नहिं मैंने, जो गये भूल सो लिये उधारे ।
ऐसी खेप भरी रचि पचिकैं चकित भये लखिकै बनिजारे ॥ २ ॥
अब तौ एक बार कहौ हँसिके—'आजहिते तुम भये हमारे' ।
याहि कृपाते नारायन की बेगि लगैगी नाव किनारे ॥ ३ ॥

—श्रीनारायण स्वामी

एक महात्माका प्रसाद

सर्वसमर्थ प्यारे प्रभुकी महिमा स्वीकार करनेपर शरणागति सिद्ध होती है और फिर शरणागतको कुछ भी करना शेष नहीं रहता। श्रम-साध्य उपाय देहाभिमानको पोषित करता है। देहाभिमानके रहते हुए न तो वास्तविक स्वाधीनता ही प्राप्त होती है और न अविनाशी जीवनसे अभिन्नता; और उसके बिना प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश नहीं होता। इस कारण आस्तिक साधक प्रभुकी महिमाको स्वीकार कर अपनेको उनके प्रति समर्पित कर सदाके लिये निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाते हैं। तुम सर्वसमर्थकी गोदमें हो, चिन्ता मत करो, अभय हो जाओ। तन-मन आदि सभीपर उनकी मुहर (सील) लगा दो और सहज भावसे उनके प्यारकी भूख बढ़ने दो। ज्यों-ज्यों प्यारकी भूख बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों जो करना चाहिये वह अपने-आप होता जायगा और फिर प्रेमी प्रेम होकर प्रेमास्पदको रस-प्रदान करनेमें समर्थ होगा। यह उन्हींकी महिमा है, जिन्होंने मानवका निर्माण किया है। तुम्हारे रचयिता तुम्हें सदैव देख रहे हैं; तुम तो उन्हें अपना मानते हो, पर वे यह जानते हैं कि तुम उन्हींके हो। तुम उन्हें अत्यन्त प्रिय हो—इसमें लेशमात्र भी संदेह मत करो। प्रत्येक दशामें उनके प्यारकी भूख बढ़ती रहे, यही सफलताकी कुंजी है।

* * *

जिस प्रकार नदीका शुद्ध जल किसी गड्ढेमें आबद्ध होकर अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह किसी शरीर, वस्तु या अवस्थामें आबद्ध होकर मोहयुक्त अनेक विकार उत्पन्न करता है। स्नेह प्राणीकी परम आवश्यकता है, पर उसे किसीमें आबद्ध नहीं करना चाहिये। हृदयमें स्नेहकी गङ्गा लहराती रहे, पर उसके सामने कोई दीवार नहीं होनी चाहिये, जिससे वह टकरा जाय। साधकका आधार उसकी साधना और लक्ष्य है। प्राणीका लक्ष्य कामका अन्त कर रामसे अभिन्न होना है। उसकी साधना भोगेच्छाओंको रामकी अभिलाषामें, स्वार्थको सेवामें एवं असंयमको संयममें परिवर्तित कर देना है।

* * *

साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। अतः मानवको मानव होनेके लिये प्रत्येक कार्य साधन-बुद्धिसे करना अनिवार्य है। जो अपनी निर्बलताओंको देखकर उनके मिटानेमें प्रयत्नशील है, वही मानव है। अपने कर्तव्योंसे दूसरोंके अधिकारोंको सुरक्षित रखना ही धर्म है; क्योंकि अपने-अपने अधिकार सभीको स्वाभाविक प्रिय हैं। इस दृष्टिसे प्रत्येक मानवको अपने लिये धार्मिक जीवनकी आवश्यकता है। अतः धर्म मानवमात्रको स्वाभाविक प्रिय है। हाँ, यह अवश्य है कि प्राणी मोहवश जो अपने लिये प्रिय है, उसे दूसरोंके प्रति नहीं करता। यह उसकी असावधानी है, और कुछ नहीं। जब सभी अपने लिये धर्मात्माकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब सभीको धर्मात्मा होना चाहिये; तभी सबकी पूर्ति हो सकती है।

* * *

भावनाओंके अनुकूल क्रिया करनेपर कर्ताका वही स्वरूप बन जाता है, जिस प्रकारकी वह भावनाएँ करता है; क्योंकि भावनाओंके समुदाय जिसमें हैं, उसका वास्तवमें स्वरूप भावनाओंसे भिन्न कुछ नहीं है। इसलिये जिस प्रकारकी भावनाएँ होती हैं, वही कर्ताका स्वरूप हो जाता है। जो कुछ प्रतीत होता है—अर्थात् जगत्के न रहनेपर जो रहता है, उसके अनुभव करनेका भाव जब कर्ता निश्चित करता है, तब जिन भावनाओंमें उसने अपनेको कैद कर लिया था, उन सबको भगवान्के लिये समर्पित कर—भावनाओंसे अतीत हो अपने प्रिय लक्ष्य—भगवान्को प्राप्त करता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं; क्योंकि जो है, वह सर्वदा अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्दघन, शुद्ध बोध-स्वरूप है। उसमें देश तथा कालकी दूरी नहीं है, बल्कि ज्ञानकी कमीसे वह दूर प्रतीत होता है। ज्ञानकी कमी इन्द्रियोंके ज्ञानमें सद्भावसे तथा अपने देहात्मभाव, अर्थात् 'मैं शरीर हूँ'—इससे प्रतीत होती है। यदि विचारपूर्वक अपनेको शरीरसे ऊपर उठा लिया जाय तो मनुष्य सब प्रकारकी भावनाओंसे छूट जाता है। फिर जो है, उसका स्वयं अनुभव कर नित्यानन्द प्राप्त करता है। इसके लिये किसी बाहरी सहायताकी आवश्यकता नहीं है।

जबतक अपवित्र भावनाएँ (अर्थात् विषयासक्ति तथा स्वार्थपरायणता) बनी रहती हैं, तबतक विचारकी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। इसलिये विचारकी उत्पत्ति होनेके लिये हृदयको पवित्र भावनाओं (विश्व-प्रेम तथा सेवा-भाव)से भर दो और यथाशक्ति उसके अनुकूल क्रिया

करो। ऐसा करते हुए लक्ष्यपर दृष्टि रखो, अर्थात् अपने प्रेम-पात्रकी प्राप्तिके लिये सदा ध्यान रखो। संसार एक जीवनयात्राका मुकाम है, रहनेका स्थान नहीं। सच्चा यात्री यात्रा करते हुए अपने लक्ष्यको कभी नहीं भूलता। यह दशा प्रतिक्षण अनुभव करनेकी है।

प्रत्येक कार्य करनेपर अपनेको कार्यमें कैद न होने दो, बल्कि उससे अपनेको ऊपर उठाओ। ऐसा करनेसे जीवन-यात्राका स्वरूप और कार्य-मार्ग प्रतीत होंगे। दृष्टि सदैव उसमें ही रहेगी, जिसका अनुभव करना है। जबतक अनुभव नहीं होता, तबतक उसका स्थायी भावसे निरन्तर स्मरण तथा ध्यान स्वाभाविक है, अर्थात् बिना प्रयत्न किये वह आप ही आप होता है; क्योंकि जो क्रिया जिसके लिये की जाती है, उसके बिना कर्ताको वह प्रिय नहीं होती, और जो प्रिय नहीं होती, उसमें कर्ता कभी नहीं ठहरता, यह अखण्ड नियम है।

कोई भी बन्धन बाहरसे नहीं होता। जिसको बन्धन प्रतीत होता है, वह उसकी ही भूल होती है; क्योंकि जब हम शरीर आदि किसी वस्तुमें अपनेको कैद कर देते हैं, तब वह हमको बन्धनका हेतु प्रतीत होता है। अतः अपने आपपर पूरा विश्वासकर सच्ची स्वतन्त्रताका अनुभव करो।

* * *

पराधीनता, नीरसता एवं अभावमें आबद्ध प्राणी सदैव सुखकी दासता एवं दुःखके भयमें आबद्ध रहता है और ऊँची-नीची योनियोंमें भटकता रहता है। इस समस्याका समाधान तभी हो सकता है, जब साधक वेदवाणी, गुरुवाणी, भक्तवाणी आदिके द्वारा अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप प्यारे प्रभुके अस्तित्वको स्वीकार करे। प्रभुके अस्तित्वको स्वीकार करनेपर फिर किसी औरके अस्तित्वकी अपनेको, अपने लिये अपेक्षा नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त सब ओरसे स्वतः विमुख होकर अपनेमें, जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें लग जाता है। जीवन-विज्ञानसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि जबतक चित्त प्रभुसे भिन्न किसी औरमें लगता है, तबतक उसका अस्तित्व बना रहता है और वह स्वभावसे स्थिर नहीं होता, अर्थात् मनमें स्थिरता, चित्तमें प्रसन्नता और हृदयमें निर्भयताकी अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साधक शान्ति—मुक्ति और भक्तिका अधिकारी नहीं हो पाता। इस दृष्टिसे चित्तका सब ओरसे विमुख होकर, अपनेमें, जो अपना जीवन है, उसमें अभिन्न होना अनिवार्य है। इसी पवित्रतम उद्देश्यकी पूर्तिके लिये आस्थावान् साधकोंने सर्वसमर्थ प्रभुके अस्तित्व, महत्त्व और अपनत्वको स्वीकार किया। मानव जिसके अस्तित्वको स्वीकार करता है, उसका चिन्तन उसमें स्वतः होने लगता है। अतएव जिसके चिन्तनसे अपनेको मुक्त होना है, उसके अस्तित्वको ही स्वीकार मत करो। केवल प्रतीति एवं प्रवृत्तिके आधारपर अस्तित्वको स्वीकार करना भारी भूल है। जिसकी प्राप्ति सम्भव है, भले ही उसकी प्रतीति न हो, उसके अस्तित्वको स्वीकार करना अनिवार्य है।

प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदैव अपनेमें है; और वह अपना है। उसीमें सहज-भावसे प्रियता होती है। जो अपने-में है, साधक अपनी भूलसे ही उससे विमुख होता है और फिर प्रवृत्तिद्वारा अपनेको शक्तिहीन ही बनाता है। श्रमसे शक्तिका ह्रास होता है—यह जीवनका विज्ञान है।

श्रमका आरम्भ ही तब होता है, जब मानव अपनेमें अपने जीवन तथा जीवन-धनको स्वीकार ही नहीं करता। अब यदि कोई यह कहे कि जो सदैव अपनेमें है, उसे स्वीकार करनेकी क्या बात? तो यह देखना चाहिये कि जो अपना नहीं है, अपनेमें नहीं है, सदैव नहीं है, केवल प्रतीतिमात्र है, उसके अस्तित्वको अस्वीकार करनेके लिये अपनेमें अपने प्यारे प्रभुको स्वीकार करना अनिवार्य होता है। इसपर भी यदि कोई प्रभुको स्वीकार किये बिना, जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, उसे स्वीकार न करे तो भी साधक अपनेमें अपने साध्यको पा जाता है। संसारकी निवृत्तिसे परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माकी प्राप्तिसे संसारकी निवृत्ति अपने-आप होती है। जिस अनन्तसे समस्त स्वीकृतियाँ सिद्ध होती हैं, वह वास्तवमें सभीका अपना है, अपनेमें है, अभी है।

इस वास्तविकतामें अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्तिका अचूक उपाय है। अन्य विश्वासने ही साधकको अन्य चिन्तनमें आबद्ध कर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख कर दिया है। अन्य विश्वासके त्यागसे प्रभु-विश्वास सजीव होता है, जिसके होते ही आत्मीयताकी अभिव्यक्ति होती है, जो अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियताकी जननी है।

अभावमें आबद्ध रहना किसीको अभीष्ट नहीं है। अपने-में अपने प्रेमास्पदको स्वीकार करनेमात्रसे स्वतः अभावका अभाव हो जाता है, जिसके होते ही किसी प्रकारकी पराधीनता, जड़ता एवं नीरसता शेष नहीं रहती—अर्थात् अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जाती है। यह शरणागत साधकोंका अनुभव है कि जो

अपनेमें है, अपने हैं, अभी हैं, वे ही वास्तवमें हैं। अपनेमें अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं; उन्हींको अपना मानना अनिवार्य है। जिसका सदैव कोई अपना है, उसीमें प्रियताकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है। प्रियतासे ही प्रियतमको रस मिलता है। अतः सोयी हुई प्रियताको जगानेके लिये, बिना देखे, भक्तवाणीके आधारपर प्रभुमें आत्मीय-सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है।

आत्मीय सम्बन्धसे ही नित नव प्रियताकी अभिव्यक्ति होगी। प्रियता प्रियतमके समान ही अविनाशी, अनन्त, चिन्मय तत्त्व है; कारण कि प्रीति और प्रियतममें जातीय भिन्नता नहीं है। इतना ही नहीं, प्रेम और प्रेमास्पदका नित्य विहार ही भक्तितत्त्व है, जिसकी प्राप्तिके लिये जो जीवनका सत्य है, अर्थात् अपने प्रेमास्पद सदैव अपनेमें मौजूद हैं, उसे स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। अपनेसे भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह कभी भी अपना नहीं है, अपने लिये नहीं है—इसको अपनाकर, जो अपनेमें अपना है, उसीके लिये अपनेको समर्पित कर सदाके लिये उन्हींका हो जाना अपना जीवन है। जो अपना जीवन है, वह अनन्तका स्वभाव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रभुविश्वासी साधक अचाह एवं अप्रयत्न होकर सदाके लिये शरणागत हो जाय। शरणागति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विश्वास है। निज ज्ञानसे असङ्गता और आस्था, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना रसरूप जीवनकी प्राप्तिका अचूक उपाय है। अपना प्रिय यदि अपनेको प्रिय नहीं हो सकता तो प्रियता-प्राप्तिका और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार निर्ममताके बिना निर्विकारता एवं निष्कामताके बिना चिर-शान्ति तथा असङ्गताके बिना जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयताके बिना अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता सम्भव नहीं है। इस दृष्टिसे जो साधक शीघ्रातिशीघ्र वर्तमानमें ही पराधीनता, नीरसता एवं अभावका अन्त करना चाहते हैं, वे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपनेमें अपने प्रेमास्पदको स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जायँ। सफलता अवश्यम्भावी है।

स्त्री-धर्म—सेवा और नम्रता

सेवा और नम्रता स्त्रियोंके सहज-प्राप्त अधिकार हैं। भारतमें ये दोनों आदर्श स्त्रियोंके जीवनको उन्नत कर रहे हैं, जबकि पश्चिममें, खासतौरपर शिक्षित वर्गमें, इन आदर्शोंको तिलाञ्जलि दे दी गयी है और स्वतन्त्रता तथा समानता आदर्श बन गयी हैं। यह किसलिये? सच्ची सेवा गुलामी नहीं, परंतु स्वतन्त्रता ही है। सच्ची नम्रतामें असमानता नहीं, परंतु समानता ही होती है।

हाँ, कई बार सेवा गुलामी बन जाती है और नम्रता दीनता बन जाती है। परंतु इससे अपनी संस्कृतिके उदात्त आदर्श छोड़कर पाश्चात्त्य आदर्श ग्रहण करनेकी कोई जरूरत नहीं। उल्टे हम अपने आदर्शोंके योग्य बननेका प्रयत्न करें और जितनी मात्रामें हमारा यह प्रयत्न होगा, उतनी ही मात्रामें हमारा जीवन पवित्र और स्वार्थत्यागी बनेगा। पश्चिममें स्वतन्त्रता अक्सर स्वच्छन्दता और स्वार्थपरायणतामें बदली हुई पायी जाती है और समानता भयंकर प्रतिस्पर्धामें बदली हुई देखी जाती है। पश्चिममें जो असंतोष और अशान्ति आज जहाँ-तहाँ नजर आती है, उसका कारण यह मालूम होता है कि स्त्री-पुरुष अपने-अपने धर्मको भूलकर प्रतिस्पर्धामें उतर आये हैं। स्त्री स्वधर्म छोड़कर पुरुषका धर्म अपनाकर आत्मदर्शन प्राप्त नहीं कर सकती; केवल सेवा और नम्रताका सहज-प्राप्त अधिकार अपनाकरके ही कर सकती है।

आजकल स्त्रियोंको पुरुषों-जैसी ही शिक्षा दी जाती है। यह मुझे तो मूलमें ही भूलभरी प्रतीत होती है और उसमें विचित्र अशास्त्रीयता लगती है। उसे उसके स्वभाव और स्वधर्मके अनुकूल ही शिक्षा दीजिये। उसे पुरुषका प्रतिस्पर्धी बनायेंगे तो समाजकी जड़ें उखड़ जायेंगी, जैसा पश्चिममें हो रहा है। —महात्मा गाँधी

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)के अमृत-वचन]

एकमात्र भगवच्चरणोंमें ही रम जाइये

संसार वस्तुतः ही दुःखमय तथा अनित्य है। यहाँ जो सुखकी खोज है, वही दुःखोंकी प्राप्तिमें प्रधान कारण है; क्योंकि यह खोज सदा-सर्वदा निराशा तथा असफलता ही प्रदान करती है। जैसे बालूमें केवल भ्रमसे जलकी लहरें दीखती हैं, वहाँ जलकी बूँद भी नहीं होती, वैसे ही संसारमें भ्रमसे सुखकी आशा होती है, असलमें यहाँ सुख-लेश भी नहीं है। तथापि हम बारंबार संसारमें ही सुख खोजते हैं; इसीमें जीवन बिता देते हैं। रात-दिन इसीके लिये चिन्ता-चेष्टा करते हैं—यही हमारा प्रमाद-मोह है।

समस्त सुख-शान्तिके स्रोत तो श्रीभगवान्‌के चरणारविन्द-युगल हैं। उनमें मन रमनेपर ही सुखके दर्शन होते हैं; अन्यथा कहीं नहीं होते। अतएव हमारा प्रधान कर्त्तव्य एकमात्र यही है कि हम सब कुछ छोड़कर किसी भी पदार्थसे सुखकी आशा न रखकर, एकमात्र भगवच्चरणोंमें ही रम जायँ। सारी ममता उन्हींमें हो जाय। ममता-आसक्तिके विषय एकमात्र वे ही बन जायँ।

'लपक पकड़ ले प्रभुका हाथ'

भगवान्‌की माया बड़ी ही प्रबल है, उससे पार पानेका एकमात्र उपाय है—प्रभुका हाथ पकड़ लेना। प्रभु हाथ फैलाकर जीवमात्रको मायासे उबारनेके लिये पुकार रहे हैं। हम उनकी पुकार सुनें। जहाँ हमने प्रभुकी पुकार सुनी और उनका हाथ पकड़ा कि जीवनमें पवित्र भगवदीय सुख, शान्ति, प्रसन्नता छा जायगी।

मायाके प्रवाहमें पड़कर, बहा जा रहा खोकर ज्ञान।
इधर-उधर गोते खाता चलता, होता नाहक हैरान॥
निकल तुरत प्रवाहसे, मत डर, लपक पकड़ ले प्रभुका हाथ।
रहे पुकार हाथ फैलाये, तुझे बचाने, चलते साथ॥
एक बार तू देख इधर, प्रभुका रक्षक कर वरद, विशाल।
कैसे तुझे निकाल उठानेको है तत्पर, बस, तत्काल॥
ताका जहाँ, उठा, आ बैठेगा तू दिव्य सुखद प्रभु-गोद।
छा जायेगा जीवनमें अनुपम शुचि भगवदीय आमोद॥

नित्य-निरन्तर अपने भगवान्‌के अधीन ही रहो

घरमें किसीका भी दोष न देखकर उनके द्वारा जो उपकार, सद्व्यवहार, सौजन्य, स्नेह आदि प्राप्त हुआ है, उसीको कृतज्ञताभरे हृदयसे याद रखना चाहिये; इसीमें लाभ है। मनमें ग्लानि, पराधीनताका दुःख आदि नहीं मानना चाहिये। अपनेको तो नित्य-निरन्तर अपने भगवान्‌के अधीन ही रहना है। वे जैसे, जहाँ रखें, उसीमें ठीक है। हम अपनी स्वतन्त्रता क्यों चाहें; क्यों अपने मनकी कोई बात, जो उनके मनके प्रतिकूल हो, सफल हो। सच्ची बात तो यह है कि भगवान् ही अपने

प्रेमीके अधीन हो जाते हैं—तभी तो लोभीके धनकी तरह वे उस प्रेमीको सर्वदा अपने हृदयमें बसाये रहते हैं। प्रेमी कितना ही दूर क्यों न हो, वह उनके हृदयमें रहता है—

'अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥'

हमारे ममतास्पद एकमात्र प्यारे भगवान् ही रहें

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि शरीरको लेकर संसारके सारे सम्बन्ध मिथ्या, दुःख-परिणामी तथा बन्धनकारक हैं। संसारका सम्बन्ध रहे ही नहीं। व्यवहारमें यथायोग्य बर्ताव नाटकके अभिनेताकी तरह कर लिया जाय, पर मनका--आत्माका सम्बन्ध तो केवल परम प्रियतम भगवान्से ही रहे। अन्य किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके साथ कुछ भी आत्म-सम्बन्ध न रहे। संसारसे जो व्यवहारका सम्बन्ध रहे, वह भी एकमात्र परम प्रेमास्पद प्राणाराम श्रीभगवान्के सम्बन्धको लेकर ही--

'नाते नेह राम सौं मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।'

'या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति-प्रतीति-सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सौं होइ सिमिटि इक ठाँई।'

निरन्तर सावधान रहना चाहिये--हमारे 'ममतास्पद' एकमात्र प्यारे भगवान् ही रहें। भगवान्में जो अनन्य ममता रहे, वह भी केवल प्रेम-स्वरूप हीः स्वसुखकी वाञ्छा कहीं रहे ही नहीं। लोक-परलोक, नरक-स्वर्ग कुछ भी बाधक न हो इस नित्य सम्बन्धमें। प्रभुसे सहज एकत्व रहे; कभी भिन्नता हो ही नहीं। यह निश्चय हो, यही अनुभव हो। यही अनुभव रहे—इस शरीरमें रहते भी और शरीरके वियोग होनेपर भी।

यही सोचना–यही निश्चय करना चाहिये—

कौन काम, कब, कैसे करिबो, कहाँ, कौनके संग।
सब कछु करैं-करावें वे ही, रचें अनोखे ढंग ॥
कठपुतली उनके कर की हौं, निज मन मोहि नचावैं।
खेल खिलावैं, जो कछु उन मेरे प्रिय के मन आवैं ॥

फिर मनमें प्रफुल्लता रहेगी। सदा-सर्वदा उनका सङ्ग बना रहेगा और उनका प्रिय कार्य ही सदा होगा। अपने लिये कोई चिन्ता होगी ही नहीं।

भगवान् प्रेमीकी कृपा चाहते हैं

तुमने यह ठीक लिखा है—'जिसपर भगवान्की कृपा बरस रही हो, वह अपनेको दीन-हीन-पतित समझकर उस कृपाका दुरुपयोग क्यों करे? उसे तो निरन्तर कृपा-सिन्धु-रस-सागरमें डूबे रहकर सदा ही गौरवका अनुभव करना चाहिये।' पर भगवान् तो प्रेमीके प्रति कृपा नहीं करते; वे तो स्वयं प्रेमीकी कृपा चाहते हैं, जिससे उनको रस प्राप्त होता रहे। भगवान् सदा ही प्रेमके भूखे हैं। वे प्रेमीके हृदयका अमृतरस पान करनेके लिये सदा लालायित रहते हैं और प्रेमरस मिल जानेपर अपनेको उसका नित्य ऋणी मानते हैं। यह उनका स्वभाव है। आनन्दमयको भी आनन्द देनेवाला प्रेम ही होता है। पर यह भाषामें नहीं आता—'जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥

सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥' भगवान् श्रीरामका यह संदेश प्रेमका आदर्श है ।

श्रीराधा-कृष्णका स्वरूप एवं दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका आनन्दस्वरूप या ह्लादिनी शक्ति ही श्रीराधाके रूपमें प्रकट हैं । श्रीराधाजी स्वरूपतः भगवान् श्रीकृष्णके विशुद्धतम प्रेमकी ही अद्वितीय घनीभूत नित्य स्थिति हैं । ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधाजी मूर्तिमती मादनाख्य महाभावरूपा हैं । वे प्रत्यक्ष साक्षात् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम नित्य वर्द्धनशील प्रेमकी आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं । कामगन्धहीन, स्वसुखवाञ्छा-वासना-कल्पना-गन्धसे सर्वथा रहित, श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी, श्रीकृष्णसुखजीवना श्रीराधाका एकमात्र कार्य है—त्यागमयी पवित्रतम नित्य सेवाके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्दविधान । श्रीराधा पूर्णतमा शक्ति हैं, श्रीकृष्ण परिपूर्णतम शक्तिमान् हैं । शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद तथा अभेद दोनों ही नित्य वर्तमान हैं । अभेदरूपमें तत्त्वतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य एक हैं और प्रेमानन्दमयी दिव्य लीलाके रसास्वादनार्थ अनादिकालसे ही नित्य दो स्वरूपोंमें विराजित हैं ।

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ ॥

श्रीराधामाधव दोनों एक दूसरेके लिये चकोर भी हैं और चन्द्रमा भी, भ्रमर भी हैं और कमल भी, पपीहा भी हैं और मेघ भी एवं मछली भी हैं और जल भी ।

आस्रय-आलंबन दोउ, बिषयालंबन दोउ ।
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख-सुखिया दोउ ॥

प्रिया-प्रियतम एक दूसरेके प्रेमी भी हैं और प्रेमास्पद भी । प्रेमीको कहते हैं—'आश्रयालम्बन' और प्रेमास्पदको 'विषयालम्बन' । कहीं श्यामसुन्दर प्रेमी बनते हैं तो राधाकिशोरी प्रेमास्पद हो जाती हैं और जहाँ राधाकिशोरी प्रेमिकाका बाना धारण करती हैं, वहाँ श्यामसुन्दर प्रेमास्पद हो जाते हैं । प्रेमका स्वरूप ही है, प्रेमास्पदके सुखमें सुख मानना । इसीसे प्रेमीको 'तत्सुख-सुखिया' कहते हैं । श्रीराधाकिशोरी और उनके प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण दोनों ही तत्सुख-सुखी हैं । श्रीराधाको सुखी देखकर श्यामसुन्दरको सुख होता है और श्यामसुन्दरको सुखी देखकर श्रीराधा सुखी होती हैं ।

लीला-आस्वादन-निरत महाभाव-रसराज ।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि बिचित्र सुठि साज ॥

प्रेमकी अन्तिम परिणतिका नाम है—'महाभाव' । महाभावका मूर्तिमान् विग्रह हैं—श्रीराधा । इसी प्रकार रसोंमें सर्वश्रेष्ठ रस है—उज्ज्वल अथवा शृङ्गाररस । इसके मूर्तिमान् स्वरूप हैं श्रीकृष्ण । इस प्रकार श्रीराधा और श्रीकृष्णके रूपमें साक्षात् महाभाव-रसराज ही परस्पर लीलारसका आस्वादन करते रहते हैं और नाना प्रकारके नित्य नूतन साज—वेष सजकर एक दूसरेको रसका वितरण किया करते हैं ।

सहित विरोधी धर्म-गुन जुगपत नित्य अनंत ।
वचनातीत अचिंत्य अति, सुषमामय श्रीमंत ॥

प्रिया-प्रियतम दोनों ही एक ही कालमें परस्पर विरोधी, अनन्त, नित्य, मन-वाणीके अगोचर (वाणीसे जिनका वर्णन नहीं हो सकता और चित्तसे जिनका चिन्तन नहीं हो सकता), अत्यन्त शोभामय एवं दिव्य ऐश्वर्ययुक्त गुणोंसे विभूषित रहते हैं ।

श्रीराधा-माधव-चरन बंदौं बारंबार ।
एक तत्त्व दो तनु धरैं, नित-रस-पारावार ॥

ये तत्त्वतः--स्वरूपतः एक होते हुए दो भिन्न स्वरूपोंको धारण किये हुए हैं । नित्य रसके समुद्र उन श्रीराधा-माधवके चरणोंकी मैं बारंबार वन्दना करता हूँ ।

विश्वास करो

विश्वास करो--श्रीकृष्ण तुम्हारे अपने हैं और निश्चय ही हैं; वे तुम्हारे ही रहेंगे, तुम उनके रहोगे । वे नित्य सच्चिदानन्दघन हैं । तुम्हारे अन्तरकी प्रत्येक पीड़ाको वे जानते हैं, अनुभव करते हैं । पाञ्चभौतिक शरीर तो नष्ट होनेवाला ही है । तुम शरीरकी चिन्ता न करके अपने दिव्य भगवद्भावमय देहको देखो; उसमें--उस दिव्य राज्यमें भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं; उनसे कभी बिछोह सम्भव ही नहीं है ।

भगवान्‌की बड़ी कृपा है अनन्त, असीम कृपा है हम सभीपर । तुमपर भी श्रीकृष्ण बहुत ही प्रसन्न हैं । तुम समय-समयपर जो निराश, उदास तथा विषादग्रस्त हो जाते हो, यह ठीक नहीं है । श्रीकृष्णकी कृपा तथा परम प्रीतिकी ओर देखकर, उसपर विश्वास करके तुमको नित्य परम प्रसन्न रहना चाहिये । पद-पदपर और पल-पलमें उनकी परम प्रीतिका तथा उनकी नित्य मुसकानभरी झाँकीका अनुभव करते रहना चाहिये ।

मन अपने इष्टदेवके चिन्तनमें ही लगा रहे

वास्तवमें ऐसी दृढ़ इच्छा होनी ही चाहिये कि शरीरसे संसारमें यथायोग्य निर्दोष कर्म होते रहें, परंतु उनके साथ मनका कभी संसारमें प्रवेश न हो । मन तो सदा अपने इष्टदेवके चिन्तनमें ही लगा रहे । कभी भूलकर भी, स्वप्नमें भी दूसरी ओर न जाय । शरीरके द्वारा होनेवाला संसारका, घरका, परिवारका काम भी उन्हींकी सेवाके रूपमें हो; कहीं कोई ममता, आसक्ति और अहंकारकी कालिमा न रहे ।

भगवान्‌की लीलाओंका अपने मनसे (चाहे जैसा ही--जैसा मनमें आवे, वैसा ही) चिन्तन किया करो । चिन्तन करते-करते अनुभूति तथा पीछे दर्शन हो जायँगे; क्योंकि भगवान् सत्य हैं तथा सर्वत्र हैं । उनकी लीला भी नित्य है ।

सेवा

तुम अपनेयोग्य सेवा पूछते हो, सो तुम्हारे योग्य सेवा यही है कि तुम मनसे संसारको सर्वथा सब प्रकारसे निकालकर निरन्तर भगवान्‌को बिना किसी शर्तके हृदयमें बसा लो और उनकी सेवाको ही सर्वस्व मानकर सदा-सर्वदा अनवरत उस विशुद्ध सेवामें ही संलग्न रहो--आनन्दपूर्वक निश्चिन्त होकर उसका सम्पादन करो । उस सेवाका फल भी सेवा ही हो ।

प्रफुल्ल चित्तसे कर्त्तव्यका सम्पादन करना चाहिये

वैराग्यकी भावनाओंको दबानेकी आवश्यकता नहीं है, किंतु वैराग्यका अर्थ समझ लेना चाहिये। 'वैराग्य' कहते हैं—विषयोंमें अनासक्तिको, न कि कर्त्तव्य-त्यागको। कर्त्तव्यको प्रबल नहीं मानना चाहिये, भगवत्-सेवा मानकर भगवान्‌की पूजाकी भावनासे प्रसन्नतापूर्वक प्रफुल्ल चित्तसे कर्त्तव्यका सम्पादन करना चाहिये। माता-पिता तथा परिवारकी सेवाको ही भगवत्पूजा मानकर कर्त्तव्यका निर्वाह करना चाहिये। रामायणमें भरतजीके सम्बन्धमें आपने यह चौपाई पढ़ी होगी—

'तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥'

(मानस २। ३२३। ३½)

अर्थात् भरतजी राज्यके सारे काम भगवान्‌के लिये करते थे; किसी भी काममें उनकी आसक्ति नहीं थी। गीताके अठारहवें अध्यायका ४६वाँ श्लोक भी हमलोगोंको सदा ध्यानमें रखना चाहिये—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

भगवान् सब जगह हैं और सब कुछ भगवन्मय है। अतः हम कहीं भी रहकर अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं और उसके द्वारा सिद्धि भी प्राप्त कर सकते हैं।

प्रेमी भक्तका लक्षण

हम भगवान्‌के हैं, भगवान्‌की हमपर बड़ी प्रीति है; हमारे अयोग्य होनेपर भी भगवान्‌का हमपर अपार एवं अतुल स्नेह है—यह विश्वास और यह अभिमान तो होना ही चाहिये। यह भी एक गुण है। यही तो प्रेमी भक्तका लक्षण है। वह गुण भगवान्‌में देखता है और दोष सब अपनेमें—

'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥'

भगवान् दैन्यपर बहुत रीझते हैं

तुम स्वच्छ और पवित्र ही हो। तुम्हें अपनेमें जो दोष दिखायी देते हैं, यह तो तुम्हारा गुण है। भगवान् इस गुणपर—दैन्यपर बहुत रीझते हैं।

यही मेरी सबसे बड़ी सेवा है

दूसरेका थोड़ा-सा दुःख भी न सहा जाय और उसे मिटानेकी स्वाभाविक चेष्टा हो, यह तो बहुत ही उत्तम है। पर उसमें ममता-अहंकार नहीं होने चाहिये; मनपर सुख-दुःखका असर नहीं होना चाहिये। मनके सदा परमानन्दमें नित्य निमग्न रहते हुए ही लीलाकी भाँति स्वाँगके अनुसार प्रभुके प्रीत्यर्थ ही सारे काम यथायोग्य होते रहें, यही नित्य भगवत्पूजन है तथा सदा वाञ्छनीय है। जो कुछ भी किया जाय, सो भगवत्पूजा है और वह भी उन भगवान्‌के इच्छानुसार उनके द्वारा ही करायी जाती है—ऐसा भाव रखना चाहिये। तुम, बस, इसी स्थितिमें सदा रहो, इससे भी ऊँचे उठ जाओ—यही मेरी सबसे बड़ी सेवा तथा मुझे सुख—परम सुख पहुँचानेकी चीज है। तुम मुझे सदा यही देते रहो—बस, यही देते रहो।

(अप्रकाशित पत्रोंसे)

श्रीभागवतामृत—२

[प्रभुपाद श्रीराधाविनोद गोस्वामीद्वारा उद्भावित श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धके प्रथम अध्यायकी 'भागवतामृतवर्षिणी' बंगला टीकाका भावानुवाद]

(अनुवादक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

गताङ्कमें भागवत दशम स्कन्धके प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्लोकोंकी व्याख्या दी जा चुकी है । उन श्लोकोंमें श्रीकृष्ण-प्रेमरूप सम्पत्तिसे युक्त महाराज परीक्षित्‌ने यदुवंशमें अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णके परम पवित्र चरित्र सुनानेके लिये श्रीशुकदेवजीसे प्रार्थना की है; अब चौथे श्लोकमें वे यह निवेदन कर रहे हैं कि आप यह न सोचें कि जैसे भूखे मनुष्यको भोजन प्राप्त हो जानेपर उसकी भोजनविषयक रुचि समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार कुछ कथा सुन लेनेपर इसकी (परीक्षित्‌की) कथा-श्रवण-विषयक उत्सुकता समाप्त हो जायगी; क्योंकि भगवान्‌की कथामें इतना रस है कि उससे कोई कभी ऊब नहीं सकता । पशुघातीके सिवा दूसरा कोई भी पुरुष भगवद्गुणानुवाद सुननेसे कभी विरक्त नहीं हो सकता—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
(१० । १ । ४)

अन्वय—निवृत्ततर्षैः (विगतविषयभोगवासनैः नारदाद्यैरपि), उपगीयमानात् (सर्वसाधनोपरितनत्वेन, 'हरेर्नामैव केवलम् ।' इत्यादिना पुराणादिषु प्रचारितात् स्वयमपि निरन्तरं कीर्तितात्), भवौषधात् (संसाररोगनिवर्तकत्वेन मुमुक्षूणामेकमात्रशरणात्), श्रोत्रमनोभिरामात् (शब्दमात्रेण श्रोत्राणि अर्थज्ञानेन मनांसि चाभितो रमयतीति मुक्तानां मुमुक्षूणां वा किमु वक्तव्यं विषयिणामपि श्रवणमनोहरात्), उत्तमश्लोकगुणानुवादात् (उद्गतानि निवृत्तानि तमांसि येषां ते उत्तमसः ब्रह्मादयः तैरपि श्लोक्यते गीयते स्तूयते चेति उत्तमःश्लोकः श्रीभगवान्, तस्य गुणानां कारुण्य-भक्तवात्सल्यादीनाम् अनु निरन्तरं वादः कथनं तस्मात् तत्कीर्तनात् तच्छ्रवणाच्च श्रीगोविन्दगुणकीर्तन-श्रवण-मनन-सेवनानुमोदनादिभ्यः इत्यर्थः), (उत्तमश्लोक इति निर्विसर्गपाठे तु उत्तमः सर्वश्रेष्ठः श्लोकः भक्तवात्सल्यादियशो यस्य स इति व्याख्या), पशुघ्नात् विना (पशुहननस्वभावात् व्याधात् विना, यद्वा पशुहननादिसाध्ययोगानुष्ठानलिप्तकर्मभ्यो विना, यद्वा अपशुघ्नादिति पाठः तस्य च अपगता शुक् शोको यस्मात् स अपशुक् आत्मा तं हन्तीति आत्मघातिनो विना), कः पुमान् (को जनः), विरज्येत (विरतो भवेत्) ।

मूलानुवाद—सांसारिक वासनासे विहीन नारदादि मुक्तगण जिसे सर्वसाधनोंका सार कहकर उपदेश देते हैं तथा स्वयं निरन्तर जिसका अनुष्ठान करते हैं; मुमुक्षुगण संसाररूपी रोगके निवारणका एकमात्र उपाय कहकर जिसका आश्रय लेते हैं, जिसके शब्द-श्रवणसे विषयासक्त पुरुषका भी कर्ण-कुहर शीतल हो जाता है तथा जिसका अर्थ-ज्ञान होनेपर मनमें आनन्दका संचार होता है, तमोगुणसे रहित, ब्रह्मादि देवगणके द्वारा परिसेवित श्रीगोविन्दकी उस नाम-रूप-गुण तथा लीला-कथाके श्रवण-कीर्तनसे आत्मघाती, आत्म-क्लेशी अथवा पशुघाती व्याधकी प्रकृतिवाले जीवके सिवा दूसरा कौन है, जो विरत हो सकता है ?

श्रीभागवतामृतवर्षिणी—श्रीकृष्ण-लीला-श्रवण करनेकी उत्कट लालसासे महाराज परीक्षित्‌ने श्रीशुकदेवजीसे प्रकट-लीला-विषयक प्रश्न किया । किंतु श्रीभगवान्‌की लीला अनन्त है; श्रीशुकदेवजी कितना बोलेंगे और महाराज परीक्षित् कितना सुनेंगे ? विशेषतः यदि श्रीशुकदेवजी विस्तृत-रूपसे लीला-वर्णन करना प्रारम्भ करें तो कुछ देरके बाद महाराज परीक्षित्‌को विरति उत्पन्न होना असम्भव नहीं है । भूखसे व्याकुल मनुष्य उत्कट भोजनकी लालसासे बहुत

अधिक खानेके लिये माँगता है, परंतु पेट भर जानेपर भोजनके बचे हुए पदार्थकी और अधिक खानेकी उसकी इच्छा नहीं होती; उसकी भोजनसे विरक्ति हो जाती है। महाराज परीक्षित्ने उत्कट लालसासे विस्तारपूर्वक श्रीकृष्ण-लीला-वर्णन करनेकी प्रार्थना की; परंतु कुछ श्रवण करनेके बाद उनकी लालसा निवृत्त हो जानेपर अन्तमें लीला-कथा-श्रवण करनेमें उनको विरक्ति पैदा न होगी, यह कौन कह सकता है?—यह बात मनमें रखकर वहीं श्रीशुकदेवजी श्रीकृष्णलीलाकी कथा कहनेमें आनाकानी न करें, इसी हेतु महाराज परीक्षित्ने 'निवृत्ततर्षैः' आदि श्लोकमें युक्ति-तर्कद्वारा समर्थन किया है कि श्रीकृष्णलीला-कथामें किसीको विरक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

मुक्त, मुमुक्षु तथा विषयी—साधारणतः जीवोंके ये तीन विभाग किये जा सकते हैं। श्रीकृष्णलीलाकथा-श्रवण करनेमें इन तीन प्रकारके जीवोंमें किसीको भी विरक्ति नहीं पैदा हो सकती, अथवा कोई श्रीकृष्णलीलाकथाके श्रवणसे विरत नहीं हो सकता। मूल श्लोकमें हेतुनिर्देशपूर्वक यही तत्त्व समालोचित हुआ है।

'निवृत्ता विगता तर्षा विषयभोगवासना येषाम्'—जिनकी विषयभोगवासना निवृत्त हो गयी है', इस व्युत्पत्तिके अनुसार श्लोकस्थ 'निर्वृत्ततर्ष' शब्दका अर्थ होता है—विषय-भोगवासनारहित, अर्थात् मुक्त। जीव अनादिकालसे विषय-वासनाके वशवर्ती होकर नाना प्रकारके दुःख और दैन्यके घात-प्रतिघातको सहता हुआ नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। किसी अनिर्वचनीय भाग्यके बलसे यदि कोई श्रीगोविन्दके चरणारविन्दका आश्रय ले सके तो साधनानुष्ठान करते-करते धीरे-धीरे उसकी यह वासना निवृत्त हो जाती है। वासना-मुक्त जीवके फिर जन्म-मरण आदि सांसारिक क्लेश नहीं रह जाते; वे परमानन्दपूर्वक श्रीगोविन्द-कथा-प्रसङ्गमें समय व्यतीत करते हैं। जो भक्तिके अतिरिक्त ज्ञान अथवा योगसाधन करके भव-बन्धनसे मुक्त होते हैं, वे परब्रह्मसे सायुज्य प्राप्त करते हैं। जो ज्ञान अथवा योगके अतिरिक्त भक्ति या शुद्धा भक्तिकी साधना करते हैं, वे संसारसे मुक्त होकर पार्षद-देह प्राप्त करते हैं। जिनकी साधना करते-करते सांसारिक वासना मिट जाती है, किंतु साधक-देह रहता है, इस प्रकारके मुक्त पुरुषको 'जीवन्मुक्त' कहते हैं। जिनके साधक-देहके अवसान होनेपर पार्षद-देहकी प्राप्ति होती है, वे 'मुक्त' हैं। श्लोकस्थ 'निवृत्ततर्ष' शब्दसे मुक्त और जीवन्मुक्त, दोनों प्रकारके अर्थ लिये जा सकते हैं। श्रीसनातनगोस्वामिपादने वैष्णवतोषणी टीकामें आलोचना की है कि 'ज्ञानिवर भक्त' और 'स्वभाव-भक्त' भेदसे मुक्त दो प्रकारके होते हैं और उसके जीवन्मुक्त तथा सालोक्यादिप्राप्त ये दो भेद होते हैं। अतएव श्लोकस्थ 'निवृत्ततर्ष' शब्दसे इन चारों प्रकारके मुक्त पुरुषोंका बोध होता है। शुद्ध भक्ति तथा योग-ज्ञानादि-मिश्रित भक्तिरूप द्विविध साधन-भेदको लेकर मुक्ति-भेद करते हुए श्रीवैष्णव-तोषणी टीकामें यह भेद किया गया है। अतएव पूर्वोक्त वाक्यके साथ विरोध नहीं है।

श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध (३ । २९ । १३)में श्रीकपिलदेवके वचनोंमें देखा जाता है कि—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

'मेरे भक्तगण सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व (कैवल्य)—ये पाँच प्रकारकी मुक्ति दिये जानेपर भी मेरी सेवासे सम्बन्धरहित होनेके कारण इनको ग्रहण नहीं करते।'

श्रीकपिलदेवके वचनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और कैवल्य-भेदसे मुक्ति पाँच प्रकारकी होती है। इनमेंसे जो कैवल्य मुक्ति प्राप्त करते हैं, वे परब्रह्मकी चित्सत्तामें लीन हो जाते हैं। जिनमें भजन-वासना रहती है, वे कैवल्यको ग्रहण नहीं करते और पार्षद-देह प्राप्त कर यथायोग्य प्रभु-सेवामें रत रहते हैं, जो लोग भवबन्धनसे मुक्त होनेकी लालसासे भक्तिकी सहायतासे ज्ञान अथवा योगका साधन करते हैं, भक्तिदेवी उनको संसार-सागरसे पार उतारकर अन्तर्हित हो जाती है; अतएव भजन-वासना न रहनेके कारण वे चित्सत्तामें लीन हो जाते हैं। जो ज्ञान और योगमिश्रित भक्ति-साधना करते हैं, उनकी भक्तिके फलस्वरूप भजन-वासना अथवा ज्ञान या योगके फलके रूपमें चिदैश्वर्यकी प्राप्ति होती है और वे सालोक्य, सार्ष्टि आदि मुक्ति प्राप्त करके पार्षद-देहसे श्रीभगवान्‌की ऐश्वर्यमयी सेवा प्राप्त करते हैं। जो लोग पहलेसे ही शुद्ध भक्तिकी साधना करते हैं, उनमें भजन-वासनाके सिवा और कुछ नहीं रहता और वे अपनी वासनाके अनुकूल भजनयोग्य शरीर पाकर श्रीगोविन्दकी चरण-सेवामें रत होकर कृतार्थ हो जाते हैं।

ज्ञान अथवा योगमिश्रित भक्ति-साधनामें अथवा शुद्ध भक्ति-साधनामें जो संसारसे मुक्त होते हैं, वे संसारसे मुक्त हो जानेपर भी श्रीगोविन्द-गुणगान नहीं छोड़ सकते। जो लोग भक्तिमिश्रित योग अथवा ज्ञानकी साधनाके द्वारा संसारसे मुक्त हो जाते हैं, उनकी संसारसे मुक्ति हो जानेके बाद श्रीगोविन्द-भजनके योग्य शरीर न रहनेके कारण वे चित्-सिन्धुमें मग्न होकर अपनी पृथक्ताको छोड़कर एकाकार रूपमें अवस्थान करते हैं। भव-बन्धनसे मुक्त जन सर्वदा श्रीगोविन्दके गुणानुवादका श्रवण और कीर्तनादि करके घोषणा करते हैं कि 'ऐसा आनन्द और किसी वस्तुमें नहीं है; यही परम फल है और यही सब साधनोंका सार है। यही सर्वोपरि वस्तु है।' मुक्तश्रेष्ठ नारदादि मुनि तथा मुक्त जीवोंके द्वारा परिसेवित ब्रह्मा, शिव, अनन्त भगवान् आदि रात-दिन श्रीगोविन्दके गुणानुवादमें ही मत्त रहते हैं। अतएव देखनेमें आता है कि भव-सिन्धु तर जानेपर भी श्रीगोविन्द-गुण-कथारूपी समुद्रको पार नहीं किया जा सकता।

रोगग्रस्त मनुष्य जब रोगकी यन्त्रणासे अचेत हो जाता है, तब उसे रोगके प्रतीकारकी वासना नहीं रहती। विकारावस्थामें वह अनेकों बातें करता है, अनेकों कार्य करता है, परंतु उसका कुछ फल नहीं होता। भव-रोगग्रस्त मनुष्योंकी भी यही अवस्था होती है। वे भी रोगके प्रभावसे चेतनाशून्य होकर विकारग्रस्त दशामें अनेकों कार्य करते हैं, परंतु इससे रोगका कुछ भी शमन नहीं होता। किसी प्रकार चेतनता आ जानेपर रोगी जब अपनी अवस्थाको समझ पाता है, तब वह रोगके प्रतीकारके लिये सचेष्ट होता है। भव-रोगग्रस्त व्यक्ति भी जब महापुरुषकी कृपासे कुछ सचेत होकर अपनी अवस्थाको समझता है, तब वह उसके प्रतीकारके लिये नाना प्रकारके उपायोंका सहारा लेता है। उक्त भव-रोगग्रस्त मनुष्य जब अपनी अवस्थाको जानकर रोगसे मुक्ति पानेके लिये कमर कसकर तैयार हो जाता है तो उसको शास्त्रकार 'मुमुक्षु' कहते हैं। मुमुक्षु लोग भवरोगके प्रतीकारके लिये हरिकथामृतरूप महौषधिका सेवन करते हैं। इस रोगकी दूसरी कोई ओषधि नहीं है। अतएव श्रीगोविन्दगुणानुवाद मुक्त और मुमुक्षु—दोनों प्रकारके जीवोंके लिये परम उपादेय है।

चक्षु-कर्ण आदि इन्द्रियोंके द्वारा रूप-रस आदि विषयोंका ग्रहण करना ही जिनके जीवनका प्रधान लक्ष्य है, वे 'विषयी' हैं। श्रीकृष्णलीला-कथा सुननेमें कानोंके लिये रसायन है तथा अर्थज्ञानसे मनको तृप्ति प्रदान करती है; अतएव विषयी लोग भी इसका परम आदरपूर्वक सेवन करते हैं। विवेचना करके देखनेपर सब लोग समझ सकते हैं कि श्रीकृष्णका रूप, उनके उच्छिष्टका रस, उनकी कथाके शब्द, उनके भक्तोंके अङ्गका स्पर्श तथा उनके चरण-निर्माल्यकी गन्धके समान परमोत्कृष्ट विषय और क्या हो सकते हैं? जो लोग इस विषयका परित्याग कर प्राकृत विषयमें रत होते हैं, वे 'कुविषयी' (अर्थात् कुत्सित विषयोंका सेवन करनेवाले) हैं।

यहाँतक आलोचना करनेपर यह ज्ञात हो गया कि मुक्त, मुमुक्षु अथवा विषयी, कोई भी श्रीगोविन्द-गुणानुवादके श्रवण-कीर्तनसे विरत नहीं हो सकता। श्रीगोविन्दके गुणानुवादमें ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि उससे सबको आकृष्ट होना पड़ता है। महाराज परीक्षित्का अभिप्राय यह है कि मैं मुक्त अथवा मुमुक्षु न होकर केवल विषयी हूँ। अतएव श्रवण तथा मननके लिये रसायनस्वरूप श्रीगोविन्दके गुणानुवादमें आकृष्ट होऊँगा, इसमें संदेह नहीं है। अतएव हे गुरो! मैं विरत या विरक्त हो जाऊँगा, ऐसा समझकर आप श्रीगोविन्दके गुणोंके वर्णनमें संकोच न करेंगे। श्रीगोविन्द-गुणानुवादमें विरत या विरक्त होना किसीके लिये सम्भव नहीं है।

मुक्त, मुमुक्षु और विषयी—ये त्रिविध जीव श्रीगोविन्दके गुणानुवादका श्रवण-कीर्तन करते हैं; किंतु विवेचना करके देखनेपर ज्ञात होता है कि इन त्रिविध जीवोंमें भी आस्वादनमें कुछ तारतम्य है।

लेशमात्र विषय-वासनासे शून्य मुक्त पुरुषके निर्मल चित्तमें श्रीकृष्ण-ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा कोटि-कोटि गुना अधिक रूपमें श्रीगोविन्द-लीलानन्दके अजस्र कोटि-कोटि स्रोत निस्सृत होकर, उनके अन्तस्तलको निमग्न करके गानरूपसे मुखके द्वारा निर्गत होकर विश्वको प्लावित करते हैं। उनको श्रीगोविन्द-गुण-गानके लिये चेष्टा नहीं करनी पड़ती। उनके मुखसे स्वयं श्रीगोविन्द-गुण-गान होता रहता है। श्लोकस्थ 'उपगीयमान' शब्दकी आलोचना करनेसे इस अर्थकी ही प्रतीति होती है। 'गीयमान' शब्द कर्मवाच्यमें प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्यमें कर्म प्रधान होता है और कर्ता गौण। मुक्त पुरुषोंके श्रीगोविन्द-गुण-गानरूपी कर्म स्वप्रधान होते हैं।

वे कर्ता होकर भी गौण होते हैं; क्योंकि उनको गानके लिये चेष्टा या यत्न नहीं करना पड़ता। 'गीयमान' शब्द वर्तमानकालमें प्रयुक्त होनेसे जान पड़ता है कि उनका गान सदा ही वर्तमान रहता है; कभी वे गान करते थे या करेंगे— इस प्रकारसे अतीत या भविष्यत् नहीं होता। 'उप' शब्द-का अर्थ 'अधिक' है। 'गीयमान' शब्दके साथ इस उपसर्गके योगसे अर्थमें और भी चमत्कार आ जाता है। मुक्तगण अधिक रूपमें, अर्थात् सब साधनों या साध्योंके श्रेष्ठरूपमें इस गानका अवलम्बन करते हैं।

मुमुक्षु पुरुषका चित्त विषय-वासनासे शून्य न होनेपर भी वे समझते रहते हैं कि विषय-वासना चित्तका मल है; इसको शीघ्र ही दूर करना होगा। रोगी जैसे रोग दूर करनेके लिये औषध-सेवन करता है, मुमुक्षुलोग भी उसी प्रकार भवरोग दूर करनेके लिये श्रीगोविन्दकथारूप महौषधका सेवन करते हैं। रोगी जिस प्रकार यत्न और चेष्टा करके औषधको उदरस्थ करते हैं, मुमुक्षुगण भी उसी प्रकार यत्न और चेष्टा करके श्रीगोविन्दकथारूप महौषधको कर्णद्वारा चित्तस्थ करते हैं। वे लोग श्रीगोविन्दकी कथाको भवरोगकी महौषधके रूपमें ग्रहण करते हैं, तथापि वस्तु-स्वभावके कारण उनका श्रवण मनके लिये रसायन बन जाता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। रोगीको यदि मीठी ओषधि प्राप्त हो जाय तो क्या वह दूसरी कटु ओषधिका सेवन करना पसंद करेगा? इसी कारण मुमुक्षु लोग कदापि श्रीगोविन्द-कथा-श्रवणसे विरत नहीं होते। विषयी लोगोंका चित्त नाना प्रकारकी विषय-वासनासे मलिन होता है, अतएव वे श्रीगोविन्द-कथाके माधुर्यका आस्वादन नहीं कर पाते। वे लोग भव-रोगमें सदा बेहोश रहते हैं, अतएव ओषधिके रूपमें भी श्रीगोविन्द-कथाको ग्रहण नहीं कर पाते; वे श्रवणसुखद होनेके कारण विषय-भोगके समान ही श्रीगोविन्दकथाका आस्वादन करते हैं।

मूल श्लोकमें 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्', 'भवौषधात्' तथा 'श्रोत्रमनोऽभिरामात्'—इन तीन विशेषणोंके द्वारा श्रीगोविन्द-कथाके मुक्त, मुमुक्षु और विषयी—इन त्रिविध अधिकारी पुरुषोंका संकेत किया गया है। किंतु वैष्णव-तोषणी टीकामें देखा जा सकता है कि 'एवं चतुर्थोऽप्यधिकारी कल्प्यः'। अभिप्राय यह है कि जिन्होंने भक्तिमिश्रित योग-ज्ञान, अथवा शुद्ध भक्तिकी साधना करके भव-बन्धनको छिन्न-भिन्न कर दिया है, वे 'मुक्त' हैं, जो लोग भव-बन्धनको दूर करनेके लिये कृतसंकल्प होकर साधनमें रत हैं, वे 'मुमुक्षु' हैं तथा जो लोग विषय-भोगके लिये पुरुषार्थ करते हैं, वे 'विषयी' हैं। इन तीन प्रकारके जीवोंके सिवा भी एक प्रकारके अधिकारी और हैं, जिनका भव-बन्धन दूर नहीं होता, अथवा इसके लिये वे चेष्टा नहीं करते तथा विषय-भोगको भी वे पुरुषार्थरूपमें नहीं लेते। वे सर्वदा प्रार्थना करते हैं—'हे भगवान्! कब हमारा यह शुभ दिन आयेगा, जब हम सब प्रकारकी वासनाको तिलाञ्जलि देकर तुम्हारा आश्रय लेकर जीवन-यापन करेंगे।' वे लोग श्रीगोविन्द-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिके अवसरको कदापि हाथसे नहीं जाने देते। श्रीगोविन्द-कथा ही उनके जीवनका सार-सर्वस्व होती है। विवेचना करके देखनेपर समझा जा सकता है कि वे मुक्त, मुमुक्षु या विषयी नहीं हैं। वैष्णवतोषणीकारके मतसे ये ही चतुर्थ अधिकारी हैं; वे 'भक्तीच्छु' (भक्तिके अभिलाषी) हैं। उनका अधिकार नारदादि मुक्त पुरुषोंसे निम्न होनेपर भी मुमुक्षु या विषयीकी अपेक्षा निम्न नहीं है। वैष्णव-तोषणीकारने "श्रीभगवत्कथा-श्रवण करनेके चतुर्थ अधिकारी 'भक्तीच्छु' (भक्तिके अभिलाषी) होते हैं"—यह बात युक्ति-पूर्वक इशारेसे समझाकर इस सम्बन्धमें एक और बात कही है—'एवं साध्यत्वं साधनत्वं च, अतः सर्वसेव्यत्वमुक्तम्'। श्रीभगवत्कथाके मुक्त, मुमुक्षु, विषयी और भक्तीच्छु (भक्तिके अभिलाषी)—ये चार प्रकारके अधिकारी होते हैं। अतः विवेचना करके देखनेपर ज्ञात होता है कि श्रीभगवत्कथा साध्य भी है और साधन भी तथा यह साधकसे लेकर सिद्ध-पर्यन्त सबके द्वारा सेव्य है।

कर्म, ज्ञान और योग-साधनसे भक्ति, मुक्ति और सिद्धि प्राप्त होती है। अतएव कर्म, ज्ञान और योग साधन हैं तथा भक्ति, मुक्ति और सिद्धि साध्य हैं। श्रीभगवत्कथाके श्रवण-कीर्तन आदि करनेका अभ्यास करनेपर क्रमशः श्रवण-कीर्तन आदिका आग्रह बढ़ जाता है; अन्तमें प्रेमोन्मत्त होकर रात-दिन श्रवण-कीर्तन करते रहनेका सौभाग्य प्राप्त होता है। अतएव श्रीभगवत्कथा साधकावस्थामें साधन तथा सिद्धावस्थामें साध्य है।

मुक्त जीवोंको साधनकी अपेक्षा नहीं होती, तथापि वे सर्वदा श्रीभगवत्कथाके प्रसङ्गमें काल-यापन करते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह उनकी पूर्व साधनाकी सिद्धि है। मुमुक्षु तथा भक्तिके इच्छुक साधकगण मुक्ति और भक्तिकी प्राप्तिके साधनके रूपमें श्रीभगवत्कथाका ही आश्रय लेते हैं।

जो लोग विषय-भोगके लिये पुरुषार्थ करते हैं, उनके विषयासक्तिसे पूर्ण अन्तःकरणमें योग-ज्ञान आदि कोई साधन नहीं टिक पाते। परंतु श्रीभगवत्कथाका क्या ही अचिन्त्य प्रभाव है कि यह विषयासक्त मनुष्यके भी कानोंमें अमृतकी धारा डालकर उसके कामहत अन्तःकरणको प्लावित करती है तथा सारी विषय-कालिमाको दूर करके उसे श्रीगोविन्दस्मृतिका लीलाक्षेत्र बना डालती है। कामना और वासनाके क्रीतदास विषयी पुरुषसे लेकर मुक्त पुरुषतक सभी लोग श्रीभगवत्कथा-श्रवणका अधिकार पा सकते हैं, अतएव यह सर्वसेव्य है। महाराज परीक्षित्ने भी श्रीशुकदेवजीके सामने श्रीभगवत्कथाकी सर्वजनीनता दिखलाकर यह संकेत किया है कि 'हे गुरो! मैं मुक्त, भक्तीच्छु (भक्तिका अभिलाषी) या मुमुक्षु नहीं हूँ; अतएव आनन्दका स्रोत, अथवा भव-रोगकी ओषधिस्वरूप श्रीभगवत्कथाको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है; परंतु आपकी कृपा होनेपर, विषयी स्वभावसे श्रवणद्वारा मनको हरनेवाली श्रीभगवत्कथाका आस्वादन करके कृतार्थ हो सकता हूँ।'

महाराज परीक्षित्ने 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्' आदि तीन विशेषणोंसे श्रीभगवत्कथाको सर्वसेव्य प्रतिपादित करके अन्तमें कहा कि 'क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।' श्रीभगवान्के 'श्लोक' अर्थात् भक्तवात्सल्यादि-जनित यश उत्तम हैं, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं। दीनोंके प्रति इतनी कृपा, दीनके उद्धारकी ऐसी चेष्टा, अयाचित भावमें सब जीवोंका इस प्रकार हित-साधन—श्रीगोविन्दके सिवा और कोई नहीं करता। इसी कारण उनको 'उत्तमश्लोक' कहते हैं। अथवा जो 'तमस्' अर्थात् अज्ञानान्धकारके बाहर अवस्थित हैं, वे 'उत्तमस्' हैं। ब्रह्मा, शिव, अनन्त प्रभु आदिको शास्त्रकार 'उत्तमस्' कहते हैं। 'उत्तमस्' लोग भी श्रीगोविन्दका गुण-कीर्तन करते हैं, अतएव उनका नाम 'उत्तमश्लोक' है। हस्तलिखित ग्रन्थमें 'उत्तमःश्लोक' तथा 'उत्तमश्लोक'—ये दोनों पाठ मिलते हैं। टीकाकारोंमें कोई एकको लेकर तथा कोई दूसरे पाठको लेकर श्लोककी व्याख्या करते हैं। इसमें वस्तुगत या तत्त्वगत कोई विरोध नहीं होता। श्रीभगवान् सत्त्व, रज और तम—इन तीनों प्राकृत गुणोंसे परे होनेके कारण 'निर्गुण' हैं, परंतु यह नहीं कह सकते कि उनमें भक्तवात्सल्य आदि गुण नहीं हैं। इसी सिद्धान्तका अवलम्बन करके महाराज परीक्षित् कहते हैं कि 'हे प्रभो! ब्रह्मा-शिव आदिके द्वारा गीयमान ऐसी मधुर श्रीगोविन्दगुणावलीका श्रवण-कीर्तन करनेसे आत्मघाती या पशुघाती जीवके सिवा दूसरा कौन है, जो विरत होगा?' 'कौन विरत होगा'—इस बातको महाराज परीक्षित् 'कः पुमान् विरज्येत'—इस भाषामें बोलते हैं। उनके मनका भाव यह है कि 'जो मनुष्य रमणीके समान पराधीन है, अथवा नपुंसकके समान विकलेन्द्रिय है, वह अपनी असमर्थताके कारण जान-बूझकर श्रीगोविन्द-कथासे विरत हो सकता है; परंतु जिनकी रसना, कर्ण आदि इन्द्रियाँ हैं, अथवा जो रमणीके समान किसीकी अधीनतामें आबद्ध नहीं हैं, वे क्यों इसप्रकारकी मधुर कथासे विरत होंगे?' महाराज परीक्षित्की इस बातसे यह समझमें आता है कि उन्होंने श्रीगोविन्दकथाविमुख जनको संसाररूपी पतिके अधीन रहनेवाली रमणी तथा 'मूक-बधिर' आदि विकलेन्द्रिय कहकर गाली दी है। वैष्णवतोषणी टीकामें 'पुमान्' शब्दकी एक और व्याख्या की गयी है—'पुमान् जीवः तेन अधिकार्यपेक्षा निरस्ता' श्लोकस्थ 'पुमान्' पद जीववाचक है, इससे यह अर्थ हुआ कि ऐसी मधुर श्रीगोविन्दकथाके श्रवण-कीर्तनमें कौन जीव विरत हो सकता है? अर्थात् इससे किसी जीवका विरत होना ठीक नहीं है। योग, ज्ञान, कर्म आदि अनेक साधन हैं; इनमें किसीके भी सब जीव अधिकारी नहीं हो सकते; केवल मानव इसके अधिकारी हैं। मानवोंमें भी सबको अधिकार प्राप्त नहीं होता। अर्थात् शान्त-गुण-सम्पन्न व्यक्ति ही अधिकारी होता है। परंतु श्रीकृष्ण-भजनके सभी अधिकारी हैं—'चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, पुरुष हो या नारी।'

श्रीगोविन्द-कथा-श्रवण करनेमें सारे जीव अधिकारी हैं तथा मुक्त, भक्तिके इच्छुक, मुमुक्षु और विषयी आदि सभी परम आदरपूर्वक इसका सेवन करते हैं। परंतु 'विना पशुघ्नात्'—अर्थात् पशुघातीके बिना कोई भी इससे विरत नहीं हो सकता। श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं कि 'पशुघ्न अथवा अपशुघ्नके सिवा कोई भी इससे विरत नहीं हो सकता।' उनके मतसे 'पशुघ्न'का अर्थ है—पशुघाती अर्थात् व्याध, और 'अपशुघ्न' शब्दका अर्थ है—आत्मघाती। जिसमें कुछ भी 'शुक्' 'अर्थात् शोक-दुःख आदि नहीं है, उसका नाम है—'अपशुक्' अर्थात् आत्मा। आत्माका पुनः-पुनः संसारमें पतन ही उसका विनाश है। श्रीगोविन्दका सम्बन्ध छोड़कर विषयासक्त होकर जो पुरुष पुनः-पुनः आत्माको संसार-बन्धनमें डालता है, वह आत्मघाती है।'

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद कहते हैं कि 'पशुघ्न' शब्दका अर्थ है—सकाम कर्मनिष्ठ। सकाम कर्मनिष्ठ मनुष्य स्वर्गकी कामनासे यज्ञानुष्ठान करते हैं और उसमें पशुवध किया करते हैं, अतएव उनको भी 'पशुघ्न' कह सकते हैं। वे कर्मफलमें आसक्त होनेके कारण श्रीकृष्णकथाके श्रवणसे विरत होते हैं। व्याध, आत्मघाती अथवा स्वर्गकामी कर्मनिष्ठ लोग श्रीगोविन्दकी कथासे विरत हो सकते हैं। वे मायाके पाशमें बँधे होते हैं, अतएव 'मुक्त' नहीं हैं। मुक्ति या भक्तिके लिये भी वे सचेष्ट नहीं होते; अतएव 'मुमुक्षु' या 'भक्तीच्छु' भी नहीं हैं। वे विषयी हैं या नहीं—इसमें भी संदेह है। विषयभोग जिनका पुरुषार्थ होता है तथा जो सर्वदा विषयभोगमें रत रहते हैं, उनको ही 'विषयी' कहते हैं। आत्मघाती मनुष्य आपाततः मधुर, कुविषयोंमें आसक्तिसे अपनेको (आत्माको) अधःपतनमें डालते हैं; अतएव उनको प्रकृत विषयी नहीं कह सकते। सकाम कर्मनिष्ठ लोग पारलौकिक भोगकी वासनासे यज्ञादि अनुष्ठानोंको करते हुए नाना प्रकारके क्लेशोंको उठानेमें नहीं हिचकते। वे लोग ऐहिक विषयभोगसे वञ्चित रहते हैं, इस कारण उनको प्रकृत विषयी नहीं कह सकते। व्याध अथवा व्याध-प्रकृतिके मनुष्य सब प्रकारके विषयभोगोंको तिलाञ्जलि देकर केवल जीवहिंसासे ऐहिक जीवनको व्यतीत करके परलोकमें अनन्त नरक-यन्त्रणाको भोगते हैं; अतएव उनको भी विषयी नहीं कह सकते। वैष्णवतोषणीकारने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करके इस विषयको सुस्पष्टरूपसे समझाया है—

> राजपुत्र चिरं जीव मा जीव ऋषिपुत्रक।
> जीव वा मर वा साधो व्याध मा जीव मा मर ॥

'राजपुत्र जबतक जीवित रहेगा, तबतक नाना प्रकारके सुख-ऐश्वर्य-भोगका अधिकारी बना रहेगा। मरनेके बाद उसको फिर तनिक भी सुखभोगकी आशा नहीं है; क्योंकि जीवनमें उसने कोई ऐसा सदनुष्ठान नहीं किया, जिससे परलोकमें फिर सुखभोगका अधिकारी बने। अतएव उसको इहलोकमें ही सुख है। ऋषिपुत्र नाना प्रकारकी तपस्यामें रत रहकर इहलोकके सुखभोगको तिलाञ्जलि दे देता है, परंतु परलोकमें उसके लिये अक्षय स्वर्गसुख तैयार है; अतएव उसको मरनेमें लाभ है; जीवनमें तपस्याके क्लेशको छोड़कर विषयभोग प्राप्त करनेकी सम्भावना नहीं है। साधु अर्थात् श्रीमद्भगवद्भजनमें रत मनुष्य इहलोकमें श्रवण-कीर्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान करते हुए परम आनन्द-पूर्वक जीवन-यापन करते हैं और परलोकमें पार्षद शरीर प्राप्त करके श्रीगोविन्दके चरणारविन्दकी सेवाके सुखमें समय व्यतीत करेंगे; अतएव उनके लिये जीवन और मरण, दोनों ही सुखमय हैं। व्याध अथवा व्याधकी प्रकृति-वाले प्राणी इहलोकमें सर्वदा परहिंसामें दुःखमय जीवन-यापन करते हैं और परलोकमें भी उनके लिये अनन्त नरक-यन्त्रणा है; अतएव उनके लिये जीवन या मरण किसीमें भी सुख नहीं है। किंवदन्ती है कि महाराज विक्रमादित्यसे वेतालने यह रहस्यपूर्ण प्रश्न किया था कि 'यहाँ है, वहाँ नहीं है, वहाँ है, यहाँ नहीं—यहाँ है, वहाँ भी है—यहाँ नहीं है, वहाँ भी नहीं है।' महाराज विक्रमादित्यने 'राजपुत्र चिरं जीव'—आदि श्लोकके भावार्थके द्वारा उस रहस्यपूर्ण प्रश्नका उत्तर दिया था। पूर्वजन्मके पुण्यके बलसे जो इहलोकमें सुखका अधिकारी होकर, उसमें उन्मत्त होकर श्रीगोविन्दके भजनसे विमुख हो रहे हैं, उनके लिये 'यहाँ है, परंतु वहाँ नहीं है।' जो लोग घने वनमें, नदीतटपर, पर्वतकी गुफामें, निर्जन स्थानमें रहकर दुष्कर तपस्यामें लगे हैं, उनके लिये 'यहाँ तो कुछ नहीं है, परंतु वहाँ यथेष्ट है।' श्रीगोविन्दके चरणारविन्दमें रत मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं; उसके लिये 'यहाँ भी है और वहाँ भी है।' श्रीगोविन्दकी लीलाकथाके श्रवण-कीर्तन, महाप्रसादके भोजन, श्रीमन्दिरके मार्जन, श्रीविग्रहकी सेवा, श्रीगोविन्दभक्तके सत्सङ्गके सुधापान तथा पर्व-यात्रा आदिके अनुष्ठान आदिमें परम आनन्दपूर्वक इस जीवनको व्यतीत करके परलोकमें भी इसी सुखसे वह काल-यापन करते हैं। जो लोग केवल परहिंसा, परोत्पीडन, जीवनभर परिश्रमसे धनार्जन आदिके द्वारा क्लेशपूर्वक जीवन-यापन करते हैं, इसके सिवा कोई भी शुभ कर्म नहीं करते, तप करनेका भी अवसर नहीं पाते, श्रीगोविन्दका भजन करनेका भी अवसर नहीं पाते, उनके समान अज्ञानी विश्वमें कोई नहीं है; उनके लिये 'इहलोकमें भी नहीं है और परलोकमें भी नहीं है।' श्रीगोविन्दके भजनसे विमुख लोग प्रायः इसी श्रेणीके होते हैं। उनके लिये न इहलोकमें सुख है न परलोकमें। सुखकी आशासे नाना प्रकारके कुकर्म करके धनसंचय करते-करते सारा नश्वर जीवन बीत जाता है; तत्पश्चात् परलोकमें जानेपर भी उनको अँधेरा ही दीख पड़ता है। वैष्णवतोषणीकार कहते हैं—

'तस्माद् यो विरज्येत स लोकद्वयेऽप्यारम्भक्लेशित्वेन

तद्विरागात् परेष्वपि शल्यवदर्पणेन व्याध एवेति गालिप्रदाने तात्पर्यम् ।' श्रीभगवान् और विषय, दोनोंमें आसक्ति बाँधी जाती है । जिसकी भगवान्‌में आसक्ति होती है, उसकी विषयोंमें आसक्ति नहीं होती और जिसकी विषयोंमें आसक्ति होती है, उसकी श्रीभगवान्‌में आसक्ति नहीं होती, यह स्वतः सिद्ध है ।

'विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशः सुदूरतः ।'

'जिसकी श्रीभगवान्‌में आसक्ति है, वह सारे गुणोंकी खान है तथा जिसकी विषयोंमें आसक्ति है, वह सब दोषोंकी खान है ।' अतएव श्रीभगवत्प्रसङ्गसे विरत विषयानुरागी मनुष्यका चित्त सदा ही विषयके तरंगोंमें आन्दोलित होता रहता है; उसमें सुखका लेश भी प्राप्त नहीं होता । वे सर्वदा परहिंसामें रत रहते हैं, अतएव व्याध छोड़कर उनको और क्या कहा जा सकता है ? महाराज परीक्षित्‌ने 'विना पशुघ्नात्' इस पदके द्वारा श्रीभगवत्कथाके प्रति आदर न रखनेवाले व्यक्तिको 'व्याध' कहकर गाली दी है ।'

इस प्रकार युक्तिपूर्ण वाक्यसे महाराज परीक्षित्‌ने श्रीगोविन्दकथाको सर्वसेवनीय तथा श्रीगोविन्दकथा-विमुख व्यक्तिको सारहीन प्रतिपादित करके श्रीशुकदेवजीसे प्रार्थना की—'हे गुरो ! आपकी कृपासे मैं परम मधुर श्रीगोविन्द-लीला-कथाके श्रवणसे विरत न होऊँगा; अतः आप परमानन्दपूर्वक लीला-कीर्तन करके मुझे कृतार्थ करें' ॥ ४ ॥

पितामहा मे समरेऽमरंजयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिंगिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं संतानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । ५-६)

अन्वयः—मे (मम), पितामहाः (अर्जुनादयः), यत्प्लवाः (यस्य श्रीकृष्णस्य श्रीचरणतरणीं समाश्रिताः सन्तः), समरे (युद्धे) अमरंजयैः (देवजयसमर्थैः), तिमिंगिलैः (तिमिंगिलनामकमहाकायजलजन्तुसदृशैः), देवव्रताद्यातिरथैः (देवव्रतो भीष्मः तदाद्यैः रथिश्रेष्ठैः), [व्याप्तम् अत एव] दुरत्ययम् (दुष्पारम्), कौरवसैन्यसागरम् (दुर्योधनादीनां सैन्यरूपं जलनिधिम्), वत्सपदं कृत्वा (गोवत्सपदवत्तुच्छीकृत्य), अतरन् स्म (पारं गताः), यः (श्रीकृष्णः), द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टम् (अश्वत्थाम्नो ब्रह्मास्त्रेण दग्धप्रायम्), कुरुपाण्डवानां संतानबीजम् (कौरवाणां पाण्डवानां च वंशरक्षानिदानम्), इदम् (भवत्समीपागतम्), मदङ्गम् (मत्कलेवरम्), शरणं गतायाः (शरणापन्नायाः), मे मातुः (उत्तरायाः), कुक्षिं गतः (गर्भे प्रविष्टः), आत्तचक्रः (धृतसुदर्शनचक्रः), सन् जुगोप (ब्रह्मास्त्रनिवारणेन रक्षितवान्) ॥ ५-६ ॥

मूलानुवाद—जिन श्रीकृष्णकी चरण-नौकाका आश्रय लेकर मेरे पितामह आदि युद्धमें अमरजयी, श्रेष्ठ महारथी भीष्म आदिक तिमिंगिलोंसे व्याप्त तथा भयानक कौरव-सैन्यरूपी समुद्रको गोवत्सके पदके समान आसानीसे पार हो गये थे । मेरी माताके शरणापन्न होनेपर जिन्होंने गर्भमें प्रवेश करके सुदर्शनचक्र लेकर अश्वत्थामाके अस्त्रतापसे दग्धप्राय कुरु-पाण्डवोंके वंश-बीजस्वरूप मेरे इस शरीरकी रक्षा की थी ॥ ५-६ ॥

श्रीभागवतामृतवर्षिणी—श्रीगोविन्द-गुणानुवादसे कोई विरत नहीं हो सकता, किसीका भी विरत होना ठीक नहीं—यह पूर्व श्लोकमें प्रतिपादित करके महाराज परीक्षित् बोले—'हे गुरो ! किसी भी जीवका श्रीकृष्णकथासे विरत होना ठीक नहीं है; विशेषतः मेरे लिये तो विरत होना कदापि उचित नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण हमारे कुलके देवता हैं; उनकी कृपासे ही हमारे कुलका बेड़ा पार लगा है; नहीं तो अपार सिन्धुमें वह डूब जाता । भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, जयद्रथ आदि कौरवोंके सेनापतियोंमेंसे कोई भी शौर्य, वीर्य, रणकौशल आदिमें नगण्य न थे । उनके अमर न होनेपर भी उनके साथ युद्ध करनेमें कोई भी अमर—देवता बिना पराजय स्वीकार किये देववैभवके गौरवको प्रदर्शित नहीं कर सकता था । भीष्मकी मृत्यु उनकी इच्छाके अधीन थी; द्रोणकी कण्ठ-तालु भेद करके ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करती हुई मृत्यु हुई; कृपाचार्य अमर हैं; पृथिवी यदि रथचक्रको ग्रस्त नहीं करती तो कर्णकी मृत्युकी सम्भावना न थी;

जयद्रथका सिर जो भूतलपर गिराता, उसका सिर भी कटकर जयद्रथके सिरके साथ ही गिरता—अतएव इनमेंसे किसीकी भी मृत्यु साधारण मनुष्यके वशकी बात न थी। इस कारण ये प्रत्येक रणमें दुर्जय थे। इनके रण-पाण्डित्यका और क्या वर्णन किया जाय। महाभारतमें देखा जाता है—

एकादशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्।
अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥
अमितान् योधयेद् यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः॥

"जो ग्यारह हजार धनुर्धरोंका अधिनायक होकर अपने कौशलसे उनको युद्धभूमिमें संचालित करता है, या उनके साथ अकेला युद्ध करता है तथा स्वयं अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें प्रवीण है, वह 'महारथी' कहलाता है और जो इस प्रकारके असंख्य धनुर्धरोंका चालक होकर उनके साथ युद्ध करता है, वह 'अतिरथ' कहलाता है।" भीष्म-द्रोण आदि प्रायः सभी अतिरथ थे। अपार कौरव-सैन्य-सिन्धुमें ये लोग तिमिंगिलके समान निश्शङ्क विचरण करते थे—

अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृतः।
तिमिंगिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः॥

"शत-योजन-विस्तृत मत्स्यविशेषका नाम 'तिमि' है; उसको भी ग्रस लेनेमें समर्थ जलजन्तु विशेष 'तिमिंगिल' कहलाता है। तिमिंगिलको भी निगल जानेवाला महामत्स्य 'तिमिंगिलगिल' है और उसको भी उदरस्थ कर लेनेवाले महामत्स्यका नाम 'राघव' है।" भुजाओंसे तैर करके पार करना तो दूरकी बात है, ऐसा कोई जलयान नहीं है, जिसपर चढ़कर तिमिंगिलोंसे भरे इस महासिन्धुको पार करनेमें कोई समर्थ हो सके। श्रीकृष्ण-चरणरूपी नौकाके द्वारा, शरणागति-रूपी पतवारके सहारे तथा उनकी करुणारूपी अनुकूल वायुकी सहायतासे हमारे पितामहोंने इस अपार समुद्रको पार किया था।

साधारणतः नौकापर चढ़कर बहुत परिश्रमसे किसी समुद्रको पार कर सकते हैं, यही देखने और सुननेमें आता है। किंतु श्रीकृष्णके चरणोंके आश्रयसे हमारे पितामह लोगोंको उस प्रकार कौरव-सैन्य-सागरको पार नहीं करना पड़ा। श्रीकृष्णके चरणोंके आश्रयकी ऐसी अपूर्व महिमा है कि उससे सागर सूखकर गोवत्सके पदके तुल्य हो जाता है; जो लोग पार होते हैं, उनको कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। श्रीकृष्णके चरणोंके आश्रयसे सागर अति तुच्छ हो जाता है। नौकाके द्वारा समुद्र पार हो सकते हैं, यह ठीक है; परंतु वैसी नौका सुलभ नहीं; वह एक बहुमूल्य वस्तु है। सब उसे प्राप्त नहीं कर सकते। श्रीकृष्णचरणरूपी नौका आश्रितके लिये अति सुलभ है। यह 'प्लव' अर्थात् 'डोंगी' है। उसे सभी प्राप्त कर सकते हैं। महाराज परीक्षित्के इस श्लोककी आलोचना करनेसे जान पड़ता है कि भव-सागरमें पड़ा हुआ मनुष्य यदि इस नौकाका आश्रय ले तो वह भी गोवत्सके पदके समान अनायास ही भवसागर पार कर सकता है; क्योंकि श्रीकृष्ण-चरणके आश्रयसे भीषण भव-सागर सूखकर गोवत्सके पदके तुल्य अनायास लाँघ जाने-योग्य हो जाता है।

महाराज परीक्षित्ने इस श्लोकमें श्रीकृष्ण हमारे कुलदेवता, हमारे कुलकी गति हैं, अतएव उनकी कथामें रति होना हमारे लिये परम कर्तव्य है—यह प्रतिपादन करके अन्तमें कहा है कि 'हे गुरो! वे केवल हमारे कुलकी ही गति नहीं हैं, मेरे भी जीवनदाता हैं। यद्यपि श्रीभगवान् सबके ही जीवनदाता हैं, तथापि जिस प्रकार उन्होंने मेरी रक्षा की है, उस प्रकार किसीकी भी कहीं रक्षा की हो, यह सुननेमें नहीं आता। द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने भूतलको पाण्डवोंसे शून्य करनेके लिये जब अमोघ ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था तथा उसके तापसे मातृगर्भमें मैं दग्धप्राय हो गया था, उस समय करुणामय श्रीगोविन्दने चक्र, गदा आदि धारणकर, मातृकुक्षिमें प्रवेशकर मेरे इस शरीरकी रक्षा की थी। मेरे शरीरकी रक्षा नहीं करनेसे उनके परम प्रिय पाण्डवकुलकी पिण्डोदक-क्रिया लुप्त हो जाती। इसीलिये भक्तवत्सल श्रीगोविन्दने अपने परम भक्त पाण्डवोंके ऊपर कृपा करके मेरे इस देहकी रक्षा की है। नहीं तो मुझमें ऐसा कोई गुण नहीं है, जिससे उनकी मेरे ऊपर ऐसी कृपा संचारित हो सकती। आज उनकी कृपासे ही मैं इस परम पवित्र गङ्गातटपर बैठकर आपके पास उनकी गुणगाथा सुननेके लिये समर्थ हो रहा हूँ। श्रीगोविन्द-कथा सुननेमें चाहे किसीकी विरक्ति हो, परंतु जो हमारे कुलके देवता हैं, हमारे जीवनदाता हैं, उनकी कथासे क्या मुझको विरक्त होना उचित है? अतएव हे गुरो! यह सोचकर कि मैं विरत हो जाऊँगा, आप मुझे वञ्चित न करें और परम मधुर श्रीगोविन्दकथा सुनाकर मुझे कृतार्थ करें॥ ५-६॥

(क्रमशः)

भगवत्पूजनका स्वरूप

(लेखक—श्रीजयकान्तजी झा)

संत एकनाथ हृदयमें प्रभुकी झाँकी करते हुए गङ्गोत्तरी-के पवित्र जलको काँवरमें भरकर अपने साथियोंके साथ काशी होते हुए रामेश्वरकी ओर जा रहे थे। वहाँ पहुँचकर वे उस जलसे प्रभुकी पूजा करना चाहते थे। ग्रीष्म ऋतु थी। एक दिन दोपहरकी जलती धूपमें संतने किसी रेतीले मैदानमें एक गधेको प्याससे छटपटाते देखा। अविलम्ब काँवर उतारकर गङ्गोत्तरीका वह पावन जल गधेके मुखमें डालकर एकनाथजीने उस मरणासन्न प्राणीकी जान बचायी। एकनाथजीके अन्य साथियोंको इस बातका दुःख हो रहा था कि इतने परिश्रमसे लाया हुआ गङ्गोत्तरीका दुर्लभ जल व्यर्थ चला गया। उनकी ऐसी भावना देखकर एकनाथजीने उन्हें समझाया—'एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र परिपूर्ण हैं। मेरी पूजा तो प्रभुने यहींसे स्वीकार कर ली।'

यदि हम विश्वरूप भगवान्‌की पूजाको अपनी दिनचर्यामें सम्मिलित कर लेते तो हमारा जीवन पूजामय बन जाता। हमारी पूजा सर्वाङ्गीण हो जाती। भगवान्‌की पूजा समाप्त करनेके पश्चात् हम स्वयं प्रसाद ग्रहण करते हैं। शीतका अनुभव होनेपर हम अपने अङ्गोंको आवश्यक वस्त्रोंसे ढकते हैं। शरीरके रोग-निवारणार्थ ओषधियोंका सेवन भी करते हैं। पर हममेंसे अधिकांश इस बातकी ओर ध्यान नहीं देते कि अभी-अभी हम जिन प्रभुकी पूजा मन्दिरमें करके आये हैं, वे ही पुनः हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये विविध रूपोंमें हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। वे प्रभु ही भक्तके रूपमें प्रसाद पानेकी शान्तिसे बाट देख रहे हैं। वे ही कंगाल बनकर भिक्षा प्राप्त करनेके लिये करुण पुकार कर रहे हैं। वे ही एक रूपमें सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित भद्र पुरुषके वेषमें दीनोंके शीत-निवारणार्थ कम्बल बाँटनेके सम्बन्धमें हमसे परामर्श करने आये हैं और दूसरे रूपमें हमारे द्वारके सामने जाड़ेसे ठिठुरते हुए टाटके टुकड़ोंके लिये गुहार कर रहे हैं। ऐसे अवसरोंपर हम भूल जाते हैं कि प्रभु ही इन सभी रूपोंमें हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये आये हैं। इसीलिये हम प्रायः उनके प्रति दुर्व्यवहार कर बैठते हैं। प्रभुकी सर्वव्यापकताका ज्ञान न होनेसे हमारी भगवत्पूजा प्रायः अधूरी ही रह जाती है।

शास्त्र बतलाते हैं—

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम्॥

अर्थात्—किसी भी साधनसे किसी भी देहधारीको सुख पहुँचाना 'भगवत्पूजन' है। सभी देहोंमें जीवरूपसे एक ही प्रभु विराज रहे हैं। अतः किसी भी जीवको सुख पहुँचाना प्रभुको ही सुख पहुँचाना कहलायेगा और प्रभुको प्रसन्न करनेवाली प्रत्येक क्रियाका नाम ही 'भगवत्पूजन' है। चींटियोंको अन्न खिलाना भी भगवत्पूजन है; क्योंकि उससे अगणित जीवोंकी तृप्ति होती है। इसी प्रकार भूखेको भोजन देना, नंगेको वस्त्र देना, चिन्ताग्रस्तको मीठे शब्दोंमें आश्वासन देना आदि भी भगवत्पूजन ही है। अशिक्षितोंको शिक्षा देकर, मुअक्किलोंको वकीलके रूपमें उचित सलाह देकर, डाक्टरके रूपमें बीमारको मीठी वाणीसे धैर्य देकर तथा उपचारका निर्देश देकर हम सच्चे अर्थोंमें भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं। इस प्रकारके पूजनका भगवान्‌के यहाँ बहुत आदर होता है। सारांश यह कि अपने नित्यके व्यवहारमें किसी भी देहधारीकी किसी प्रकारकी सेवा अथवा सहायता करना भगवत्पूजन ही है। भगवत्पूजनका यह प्रकार इतना सरल है कि किसी भी स्थितिका मनुष्य इसे कर सकता है। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करते हुए अपने व्यवहारकी शुद्धतासे अपने सम्पूर्ण जीवनको भगवत्पूजनरूप बना सकता है। इस मार्गका अवलम्बन बालक-वृद्ध, गरीब-अमीर, विद्वान्-मूर्ख, बलवान्-निर्बल, पुरुष-स्त्री आदि सभी कर सकते हैं।

कभी-कभी हमारी ऐसी भावना होती है कि विश्वरूप भगवान्‌की पूजाके योग्य साधन हमारे पास नहीं हैं। पर यह हमारे मनका भ्रम ही है। वास्तवमें तो हमारे अंदर पूजाकी सच्ची चाह होनी चाहिये। चाह होनेपर तो हम अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मसे प्रभुकी पूजा कर सकते हैं। यदि हम दूकानदार हैं तो अपने ग्राहकोंको प्रभुरूपमें देखकर सम्मानपूर्वक उचित मूल्य लेकर उनकी सेवाकी दृष्टिसे उन्हें ईमानदारीके साथ अच्छी वस्तु दें तो इस प्रकारके क्रय-विक्रयसे ही विश्वरूप भगवान्‌की सच्ची पूजा हो जायगी। यदि हम चिकित्सक हैं तो प्रत्येक रोगीमें प्रभुकी

झाँकी करके, यदि हम शिक्षक हैं तो प्रत्येक छात्रमें प्रभुको विराजित देखकर और यदि वकील हैं तो प्रत्येक वादी-प्रतिवादी, न्यायाधीश एवं साक्षी इत्यादिमें अपने इष्टदेवको ही अभिव्यक्त देखकर यथायोग्य अपने विशुद्ध व्यवहारसे उनकी पूजा कर सकते हैं। हम जहाँ जिस क्षेत्रमें हैं, जिस परिस्थितिमें जो भी काम करते हैं, वहीं, उसी क्षेत्रमें, उसी परिस्थितिमें अपने कामको विशुद्ध बना सकते हैं और अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिमें प्रभुको देखकर उन्हें अपनी विशुद्ध पूजा समर्पित कर सकते हैं। यदि अपने जीवनको पूजामय बनानेके लिये हम कटिबद्ध हैं, तो सर्वशक्तिमान् प्रभुकी शक्ति अपने-आप हमें ऊपर उठाने लगेगी और हमें स्पष्ट दीखेगा कि जिस वेषमें प्रभु पूजा ग्रहण करने आये हैं, उसके अनुरूप पूजाकी सामग्री उन्होंने पहलेसे ही हमारे पास भेज रखी है। उन सामग्रियोंका खुले हाथों उपयोग करनेसे हमारा जीवन पूजामय बन जायगा। इस प्रकार सर्वत्र प्रभुको विराजित—सबको प्रभुका ही रूप देखकर यदि हम उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा कर सकें तो हमारा काम बन जायगा और हमारी पूजा सर्वाङ्गीण हो जायगी। हमारा एवं प्रभुका मिलन तुरंत ही हो जायगा और प्रभुकी सच्ची पूजा करके हम सदाके लिये कृतकृत्य हो जायँगे।

प्रभुके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह तो अनादि है, सदा स्थिर, एकरस रहनेवाला है। उनके साथ सम्बन्धमें कोई हेतु नहीं। वह सम्बन्ध अत्यन्त निर्मल, अपरिसीम एवं प्रेमसे परिपूर्ण है। इसीसे वे हमारे लिये अपना सर्वस्व दान भी करते हैं। उनके प्रेमकी शक्ति-सामर्थ्यकी भी सीमा नहीं; वह तो अनन्त, असीम है। वे सर्वसमर्थ हैं, असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। साथ ही वे सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं। अतीत, वर्तमान, भविष्यका अणु-अणु उन्हें ज्ञात है। अगणित विश्व-ब्रह्माण्डमें कहाँ, किस समय, क्या हुआ, क्या हो रहा है और क्या होगा, इसको वे पूरा-पूरा जानते हैं। इसीलिये उनसे कभी तनिक-सी भी भूल नहीं होती। ऐसे प्रभुको, प्रभुके साथ अपने नित्य सम्बन्धको यदि हम जान लें, उनके सम्बन्धका ही एकमात्र भरोसा करके हम अपने कार्यक्षेत्रमें उतरें, तभी सफलता, आनन्द और संतोष आगे-से-आगे हमें वरण करनेके लिये तैयार खड़े मिलेंगे और हमारे द्वारा भगवान्‌की सच्ची पूजा हो सकेगी।

यह बात विचारणीय है कि जब हमारा नित्य सम्बन्ध महामहिम प्रेममय प्रभुसे है, वे सदैव हमारे साथ रहते हैं, तब हम उन्हींपर निर्भर क्यों नहीं रहते? इसका कारण केवल यही है कि हमारी इन्द्रियाँ स्वभावसे ही बहिर्मुख हैं। इसीलिये अपने अन्तरालमें विराजित प्रभुको हम जान नहीं पाते। जबतक इन्द्रियोंका प्रवाह बाहरकी ओरसे मुड़कर अन्तर्मुख न बन जाय, प्रभुकी ओर न हो जाय, तबतक हमारी इन्द्रियाँ प्रगाढ़ तमोगुणकी ओर दौड़ती रहेंगी। हमारे हृदय तमोमय आसुर भावोंसे भरे रहेंगे और हमें कभी भी इस बातका ज्ञान न होगा कि किन कर्मोंसे इस जीवनमें एवं जीवनके पश्चात् परलोकमें यथार्थ कल्याण होना सम्भव है। अतः हमें प्रभुमें दृढ़ आस्था रखकर गम्भीरतासे विचार करना पड़ेगा और जब हृदयमें भगवान्‌की ज्योति जग उठेगी, तब हमें दीखेगा कि समस्त विश्व प्रभुमें ही स्थित है एवं विश्वके कण-कणमें प्रभु अवस्थित हैं। ऐसी स्थितिमें अपने-परायेका भेदभाव जाता रहेगा, शत्रु-मित्रकी भावना नष्ट हो जायगी; सर्वत्र एक अखण्ड सत्ता—आत्मसत्ता, भगवत्सत्ताकी ही अनुभूति होगी। उस स्थितिमें प्रत्येक वस्तु हमारे नेत्रोंके सामने भगवान्‌की परम सुन्दर आनन्दमयी लीला बनकर उपस्थित होगी—हमें सदा-सर्वदा भगवान्‌का मङ्गलमय स्पर्श प्राप्त होने लगेगा और अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मसे हम भगवान्‌की सच्ची पूजा करनेमें रत हो जायँगे।

भगवत्पूजनके अन्य प्रकार भी हैं, परंतु वे सर्वजन-सुलभ नहीं हैं; प्रत्युत जो दृढ़निश्चयी तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं, उन्हींसे इस प्रकारके पूजन हो सकते हैं। यथा—

> रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
> हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनत्रयम्॥

भगवान्‌की आराधनाके तीन साधन हैं। पहला साधन है—रागाद्यदुष्टं हृदयम्—हृदयको रागादि क्लेशोंसे कलुषित न होने दें; क्योंकि जब ये क्लेश अन्तःकरणमें जमकर बैठ जाते हैं, तब वह तमोगुणसे आवृत हो जाता है और फलतः वह ईश्वरके सम्मुख नहीं हो सकता। अतः भगवत्पूजनके लिये अन्तःकरणका निर्मल होना परमावश्यक है। जबतक रागादि पाँचों क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) अन्तःकरणसे नहीं निकल जाते, तबतक वह निर्मल नहीं हो पाता और हमारा भगवत्पूजन अधूरा ही रह जाता है।

दूसरा साधन है—वागदुष्टानृतादिना—अर्थात् वाणीको असत्यभाषण आदि दोषसे दूषित अथवा अपवित्र न होने देना;

दूसरे शब्दोंमें वाणीको सदैव सत्यसे पवित्र रखना। सत्यका आचरण कैसे किया जाय, यह निम्नलिखित श्लोकसे स्पष्ट है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

अर्थात् 'सत्य अवश्य बोले, परंतु मधुर वाणीमें बोले, क्रोधावेश या कड़े शब्दोंमें नहीं; क्योंकि क्रोधमें या कड़े शब्दोंमें बोलनेसे सुननेवालेका दिल दुखता है और इससे सत्य-भाषणका तप नष्ट हो जाता है, अतः अप्रिय सत्य कदापि न बोले। प्रिय लगनेवाली बात हो, पर असत्य हो तो उसे भी न बोले। (बहुधा किसीकी खुशामद करनेके लिये ऐसी वाणी बोली जाती है, जो सर्वथा अनुचित है।) सत्य बोलनेके सम्बन्धमें यही सनातनधर्म है।' इसका अनुसरण करना ही सच्चे अर्थोंमें भगवान्‌की पूजा है।

तीसरा साधन है—हिंसादिरहितः कायः—अर्थात् शरीरको हिंसा आदि दुष्कर्मोंसे सर्वथा मुक्त रखना। हिंसा तीन प्रकारकी है—कायिक, वाचिक और मानसिक।

(अ) शरीरसे या शरीरके द्वारा किसी अस्त्र-शस्त्रसे दूसरे मनुष्यके शरीरपर आघात करना 'कायिक हिंसा' कहलाती है।

(ब) कठोर वाणीके प्रयोगसे किसीके हृदयपर आघात पहुँचाना 'वाचिक हिंसा' है।

(स) मनसे किसीका बुरा चाहना, किसीके अशुभ होनेमें आनन्द मानना अथवा किसीकी हानि देखकर उसका मनसे अनुमोदन करना, यह 'मानसिक हिंसा' है।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी हिंसाओंसे मुक्त होनेके लिये भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात् ''सारे धर्मोंका सार मैं तुमसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। फिर उसे एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल न दो, बल्कि हृदयमें धारण करो और उसका निरन्तर मनन करके उसे अपने जीवनमें उतारो। 'आत्मनः प्रतिकूलानि'—जो व्यवहार तुमको प्रतिकूल लगे, वैसा व्यवहार 'परेषां न समाचरेत्'—दूसरोंके प्रति कभी न करो।''

यही बात भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी बतलायी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी सब प्राणियोंमें अपने ही समान सुख-दुःखको देखता है, उसे मैं योगियोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ।'

इस प्रकार त्रिविध हिंसाओंसे अपनेको मुक्त रखना ही सच्ची भगवत्पूजा है।

इससे भी अधिक उत्कृष्ट प्रकारका भगवत्पूजन है, जो बहुत कालतक साधन करनेके बाद अपने-आप होता रहता है। उस अवस्थामें उच्च कोटिका भक्त भगवान्‌की स्तुति करते हुए उनसे तदाकार होकर कहता है—'हे प्रभु! मेरे शरीररूपी मन्दिरमें तुम्हीं आत्मारूपसे विराजमान शिव हो, बुद्धि ही गिरिराजनन्दिनी उमा है। मेरे प्राण तुम्हारे सहचर हैं। इस शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ जो विषय-भोग भोगती हैं, उनके द्वारा तुम्हारा पूजन हुआ करता है। निद्रा ही समाधि है। चरणोंद्वारा जो संचरण होता है, वही तुम्हारी परिक्रमा है। हमारी वाणीसे जो-जो शब्द उच्चरित होते हैं, उनसे तुम्हारी स्तुति होती रहती है। इस प्रकार मेरे द्वारा जो-जो कायिक-वाचिक अथवा मानसिक क्रियाएँ हो रही हैं, उन सभीसे तुम्हारा पूजन हो रहा है।'

ऐसी अवस्थामें भक्तका देहाध्यास सर्वथा छूट जाता है और सर्वात्मभाव पूर्णरूपेण परिपुष्ट हो जाता है। ऐसी स्थितिको ही ज्ञानीकी सहज समाधि-दशा कहते हैं। इसमें साधकका देहाभिमान, जिससे विशुद्ध परमात्म-स्वरूप आत्माका जीवभाव दृढ़ हो गया है, तत्त्वज्ञानके द्वारा निर्मूल हो जाता है तथा 'परमात्मा स्वयं ही चराचर भूतमात्रमें आत्मरूपसे विराज रहा है'—यह भाव दृढ़ हो जाता है एवं समस्त इन्द्रियोंकी क्रियाएँ भगवत्पूजन-स्वरूप हो जाती हैं।

उपर्युक्त प्रकारके भगवत्पूजनमेंसे अपनी-अपनी रुचि एवं योग्यताके अनुसार किसी भी प्रकारका पूजन करनेसे सब प्रकारके पूजन अपने-आप हो जाते हैं। ईश्वर हमें शक्ति दें, जिससे हम विषयोंसे विमुख होकर अपना सारा जीवन भगवत्पूजन-मय बना लें।

संतका स्वरूप

'एक साधु'*

संत महाभावकी एक लहर होता है। जैसे समुद्रकी लहर यह नहीं देखती कि तटपर खड़ा रहनेवाला मलसे सना हुआ है अथवा सर्वथा निर्मलताकी मूर्ति ही है वह, ठीक इसी प्रकार संत स्वभावसे अदोषदर्शी होते हैं।

जिस प्रकार लहरोंके द्वारा आनेवालेको अपने पीछे घसीटनेका प्रयास होता है और यह प्रयास अविराम गतिसे निरन्तर चलता ही रहता है, उसका विराम कभी होता ही नहीं—तटपर आया हुआ निराश तो लौटता ही नहीं, लहरें सदा-सर्वदा आतुर रहती हैं आनेवालेको अपने हृदयमें आत्मसात् करनेके लिये, किंतु आगे कदम बढ़ानेका प्रयास करना होता है तटपर खड़े रहनेवालेको ही; ठीक इसी प्रकार संत प्राणोंसे प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कोई उनके साथ प्रभुके चरणप्रान्तमें चलनेको प्रस्तुत हो।

लहरें आवाज देती रहती हैं आनेवालोंको बढ़ आनेके लिये अपनी ओर; किंतु लहरोंकी गर्जनासे उनके इस संकेतको ग्रहण न करनेवाले पीछेकी ओर ही भागते हैं, ठीक इसी प्रकार संत अपने जीवनसे, वाणीसे सबका आह्वान करते हैं, परंतु कोई विरला भाग्यवान् ही संतके इस आह्वानको सुनता है और उनके साथ चलनेको कदम बढ़ाता है।

* * *

संतकी कोई पहचान नहीं होती, परंतु फिर भी जिनके दर्शन-स्पर्श-भाषण आदिसे ये चार बातें हों, उन्हें संत मान ही लेना चाहिये—

१—भगवान्‌के प्रति विश्वास अपने-आप उत्थित हो;

२—पापके प्रति सहज घृणा हो;

३—अपने-आप शुभ प्रवृत्तिकी प्रेरणा मिले; और

४—सम्पर्कमें आनेपर अद्भुत-अनिर्वचनीय शान्तिकी अनुभूति हो।

—यदि ये चारों बातें न हों तो समझ लेना चाहिये कि अपने लिये वे संत नहीं हैं; उन्हें छोड़ ही देना चाहिये, फिर चाहे वे बड़े-से-बड़े संत ही क्यों न हों।

सारांश यह है, दैवी सम्पदाके गुण जिनमें अधिक विकसित हों तथा जिनके सम्पर्कमें आनेवालेके अंदर भी दैवी सम्पदा विकसित हो, उन्हें संत माननेमें तनिक भी आपत्ति नहीं है।

'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।'

(गीता ९। १३)

भगवान्‌ने महात्माओंको दैवी प्रकृतिके आश्रित कहा है।

---

* 'आस्तिकताकी आधारशिलाएँ' शीर्षकसे आपके विचार गत कई वर्षोंसे 'कल्याण'में प्रकाशित होते रहे हैं। —सम्पादक

देवनदी गङ्गाका आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रूप

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०)

सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूपात्मक है । विश्वका प्रत्येक पदार्थ अनन्त ब्रह्मके किसी-न-किसी रूप, गुण या शक्तिको अभिव्यक्त करता है । श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायमें एवं विश्वरूप-दर्शन-प्रसङ्गमें यह सिद्धान्त भलीभाँति स्पष्ट हुआ है । इस सिद्धान्तके अनुसार ही सुरसरिता गङ्गा भी भगवान्‌की विशिष्ट प्रधान विभूति अथच ब्रह्मरूपिणी या अव्यक्त ब्रह्मकी सगुणरूपाभिव्यक्ति हैं ।[1]

अभिव्यक्तावस्थापन्न प्रत्येक पदार्थके तीन रूप होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम (कारण), अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक । जैसे हमारे शरीरकी तीन सत्ताएँ हैं—स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर । स्थूल शरीरका आधार सूक्ष्म शरीर है एवं सूक्ष्म शरीरकी अभिव्यक्ति ही भौतिक स्थूल शरीरके रूपमें हुई है । स्थूल शरीरकी सत्ता, संचालन एवं नियमनका केन्द्र सूक्ष्म शरीर है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीरकी सत्ताका आधार परम सूक्ष्म कारण शरीर है । इन तीनों शरीरोंका संचालक, प्रेरक एवं नियन्ता जीवात्मा है । जीवात्मा एवं इन तीनों शरीरोंका नियन्त्रण विश्वात्मा ब्रह्म एवं उसकी क्रियाशक्ति दैवी प्रकृति या योगमायाके हाथमें है । यही स्थिति सृष्टिके प्रत्येक पदार्थकी है । प्रत्येक वस्तुका दृश्यमान अभिव्यक्त रूप उसका स्थूल शरीर है । पर प्रत्येक स्थूल रूपके पीछे तत्-तत् रूपकी सूक्ष्म एवं कारण शरीर तथा तत्-तत् तीनों शरीरोंका संचालक आत्मा भी है, जो विश्वात्मा एवं परा प्रकृतिके विश्वनियम, ऋतके अनुसार कार्य करता है । इस प्रकार प्रत्येक दृश्यमान वस्तुमें उसका सूक्ष्म एवं कारणरूप अथच उस रूप या शरीरकी नियन्त्री अधिष्ठातृचेतना (आत्मा) की सत्ता होती है एवं उन दोनों—रूप (शरीर) एवं अधिष्ठातृ-चैतन्यके अंदर और बाहर सर्वव्यापक अन्तर्यामी ब्रह्मकी सत्ता विद्यमान रहती है । पर हमारी स्थूल दृष्टि एवं बुद्धि पदार्थोंके स्थूल रूपको ही देख एवं जान पाती है; उनमें निहित सूक्ष्म शरीरोंकी सत्ता अधिष्ठातृ-चैतन्य एवं ब्रह्मको प्रत्यक्ष नहीं कर पाती । जब योगसाधनके द्वारा बुद्धि एवं दृष्टिमें सूक्ष्मदर्शनका सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है, तब वे प्रत्येक वस्तुमें निहित उसके सूक्ष्म रूपको, उसकी चैतन्य सत्ताको एवं सर्वव्यापक ब्रह्मको भी देखने एवं अनुभव करनेमें समर्थ हो जाती हैं । भगवत्सखा अर्जुन भी श्रीकृष्णकी कृपासे दिव्य दृष्टि लाभ करनेके बाद ही उनके विश्वरूपको देखने एवं उनके वास्तविक स्वरूपको जाननेमें समर्थ हुआ था[2] । हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि पदार्थोंकी इस त्रिविध सत्ता, उनमें अन्तर्निहित चैतन्य, उनकी अधिष्ठातृ-देवता एवं सर्वव्यापी ब्रह्म-सत्ताके रहस्यसे परिचित थे, इसीलिये शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ पदार्थों एवं देवाख्यानोंके त्रिविध रूपका वर्णन कहीं संकेतरूपमें एवं कहीं स्पष्टरूपमें मिलता है । इसी सत्ता-वैविध्यके ज्ञानके आधारपर देवनदी गङ्गाके त्रिविध रूपका एवं गङ्गावतरण-कथाके त्रिविध रहस्यार्थका संकेत इतिहास एवं पुराणोंमें उपलब्ध होता है ।

देवनदी गङ्गाके ब्रह्मलोक, विष्णुलोक या स्वर्गसे अवतरित होकर भगवान् शंकरके जटा-जूटमें प्रविष्ट होने और पुनः उनकी एक धाराके शंकर-जटासे मुक्त होकर भगीरथके दिव्यरथका अनुगमन करते हुए ऋषि कपिलके शापसे भस्मीभूत सगरके साठ हजार पुत्रोंका उद्धार करके पूर्वी समुद्रमें मिल जानेकी पावन कथा रामायण, महाभारत एवं पुराणोंके अनेक स्थलोंमें मिलती है । कथामें ही त्रिपथगा गङ्गाके आधिदैविक एवं आध्यात्मिक सूक्ष्म रूपकी झलक मिल जाती है । पुराण-ग्रन्थोंमें इन सूक्ष्म रूपोंके स्पष्ट उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त हो जाते हैं ।

---

१. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥ (१० । ८)
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ (१० । २०)
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ (१० । ३९)
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ (१० । ५)
स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ (१० । ३१)
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ (९ । १९)
(श्रीमद्भगवद्गीता)

२. न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
(वही ११ । ८)

स्कन्दपुराणके अनुसार गङ्गा अनेक ब्रह्माण्डोंका आधार है तथा शिवकी सूक्ष्मतमा (परा) जलात्मिका मूर्ति है[3]। लिङ्गपुराणके अनुसार शिवकी इस अम्बुमयी मूर्तिका नाम अम्बिका है। यह अम्बिकामूर्ति समस्त भूतोंको संजीवन देनेवाली एवं पवित्र करनेवाली है। वह प्राणमें संस्थित है[4]। प्राण हैं शिव, आग्नेयतत्त्व। गङ्गा शिवके मूर्धापर अवस्थित हैं। जहाँ आग्नेयतत्त्व है, वहाँ सोम (जल) तत्त्व है। इस प्रकार शिव और गङ्गाका सम्मिलित रूप अग्नीषोमात्मक जगत्का स्थूल रूप है। ऋग्वेदके अनुसार अप् (जल) में दो तत्त्वकी सत्ता है—सोम और अग्निकी[5]। सोम उत्पादक तत्त्व है, शक्तिका घनात्मक रूप है। अग्नि शोषक तत्त्व है, शक्तिका ऋणात्मक रूप है। इन दोनों—अग्नि और सोम—के परस्पर सहयोग तथा घात-प्रतिघातसे जगत्की सृष्टि होती है। सृष्टि-चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। सोमके साहचर्यसे अग्नि शोषक न रहकर पोषक बन जाता है। इसीलिये लिङ्गपुराणने गङ्गाको समस्त भूतोंकी संजीवनी कहा है।

हरिवंशने गङ्गाको 'सोम' बताते हुए धारासलिल-विग्रह (सोम, शिव)से सोम (गङ्गा)की उत्पत्तिका वर्णन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इस सोम (गङ्गा)को धारण करनेसे ही महेश्वर सब प्राणियोंके प्राणदाता होनेके कारण सर्वभूताधिपति पदपर अभिषिक्त हुए।[6] शिवद्वारा गङ्गाका धारण प्रकारान्तरसे अग्नितत्त्वपर सोमतत्त्वकी प्रतिष्ठा, प्राणतत्त्वपर रसतत्त्वकी अवस्थिति एवं जगत्स्रष्टाकी सृष्टिकी पालिका-पोषिका-धारिका शक्तिसे सतत युक्त रहनेका संकेतक है। स्कन्दपुराणद्वारा शिवकी जलमूर्ति (गङ्गा)को अनेक ब्रह्माण्डोंका आधार कहनेके पीछे यही तात्पर्य है। पिण्ड या ब्रह्माण्डके निर्माणमें रसतत्त्वके अभावमें भूतत्त्वके उपादानका संयोजन एवं संघटन नहीं हो सकता।

सोमतत्त्वकी विवेचना करते हुए महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी कहते हैं कि अप्तत्त्वकी सूक्ष्म दशा सोम है। सोमकी भी तीन अवस्थाएँ हैं—सूक्ष्म दशामें 'सोम' किंचित् घन होनेपर 'वायु' और अधिक घन होनेपर उसे ही 'अप्' कहते हैं। इसलिये सूर्यसे ऊपरका परमेष्ठिमण्डल (महः और जनःलोक) अप्लोक, वायुलोक या सोमलोक कहलाता है।······सोमकी तीनों कलाओंमेंसे सोम चन्द्रमा-रूपसे, अप् गङ्गारूपसे और वायु जटारूपसे शंकरके मस्तकमें (अग्नि आदिसे ऊपर) विराजमान है। यह स्मरण रहे कि परमेष्ठिमण्डलका 'अप्' ही गङ्गारूपमें परिणत होता है[7]।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालके मतमें "परमेष्ठिमण्डलका सोम ही सोमसमुद्र (या चन्द्रह्रद) है, जहाँसे गङ्गाका जन्म होता है।[8] गङ्गा (मर्त्यलोकमें) सोमकी प्रतिनिधि है। एक अन्य ग्रन्थमें डॉ० अग्रवालने लिखा है कि "परमेष्ठिलोक (क्रन्दसी लोक) ऋत या सोमसे भरा हुआ है। इसीलिये उसे वरुण, समुद्र, आपः या सलिल भी कहते हैं। उसी सोम या सर्वव्यापक भौतिक द्रव्यसे आगेकी पिण्ड सृष्टिका निर्माण होता है। मूलसृष्टिका, परमेष्ठिलोकका सोम निरन्तर सूर्यमें आ रहा है। पारमेष्ठ्य सोमका प्रतीक गङ्गा है। उस सोम समुद्रसे वह शक्ति अपनेको युक्त करती है, भले ही (वह) पृथ्वीमें उत्पन्न हो।[10] इसी ग्रन्थमें अन्यत्र उन्होंने

---

३. ममैव सा परा मूर्तिस्तोयरूपा शिवात्मिका।
ब्रह्माण्डानामनेकानामाधारः प्रकृतिः परा॥
(स्कन्दपु०, काशीखण्ड २७। ७)

४. संजीवनी समस्तानां भूतानामेव पावनी।
अम्बिका प्राणसंस्था या मूर्तिरम्बुमयी परा॥
(लिङ्गपुराण २। १२। ३२)

५. अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥
(ऋग्वेद १। २३। २०)

और भी देखिये—ऋग्० १०। ९१। ६, ७। ४९। ४

६. सोमात् सोमः समुत्पन्नो धारासलिलविग्रहात्।
यथाभिषिक्तो भूतानामाधिपत्ये महेश्वरः॥
(हरिवंश०, भविष्य० १७। २३)

७. गिरिधरशर्मा चतुर्वेदीः 'शिवमहिमा' कल्याण (संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क), जनवरी १९६२, पृ० ५८७ तथा ५९२।

८. वासुदेवशरण अग्रवालः 'वामनपुराण—ए स्टडी' (Vāmana-Purāṇa—A Study) पृ० १०७।

९. महाभारत, भीष्मपर्व ६। २८-३१ में विश्वरूपा गङ्गाका मेरुपृष्ठसे निकलकर चन्द्रह्रदमें गिरने एवं पुनः वहाँसे शंकरकी जटामें आनेका वर्णन है।

१०. वासुदेवशरण अग्रवालः 'मार्कण्डेयपुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन' पृ० १८५, १८९।

लिखा है कि 'सौरी शक्ति या सूर्यमण्डलमें शिवतत्त्व अभिव्यक्त होता है।'[11]

अप्-तत्त्व एवं गङ्गोपाख्यानके आधिदैविक रूपकी और भी अधिक स्पष्ट व्याख्या महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदीने अपने ग्रन्थ 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (पृ० ११०—११२) में इस प्रकार की है—"जलकी तो चार अवस्थाएँ स्पष्टरूपमें वेदोंमें वर्णित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (१।१।१)में बताया गया है कि 'आत्मा'रूप मूल-तत्त्वने जिस जल (अप्-तत्त्व)को उत्पन्न किया, वह चार अवस्थाओंमें, चार नामोंसे, चार लोकोंमें व्याप्त है। उनके नाम हैं—अम्भः, मरीचि, मर और अप्। 'अम्भः' इनमें वह जल है, जो सूर्यमण्डल (द्युलोक)से भी ऊर्ध्व लोकोंमें, महः जनः आदि लोकोंमें व्याप्त है। अन्तरिक्षमें जो जल व्याप्त है, वह 'मरीचि' रूप है एवं पृथिवीके उत्पादनमें जो जल अग्रसर होता है, वह 'मर' है और पृथिवीपर प्रवाहित होनेवाला या पृथिवीको खोदनेपर निकलने-वाला जल 'आपः' नामसे ही प्रसिद्ध है[12]। इनमें सर्वप्रथम जो 'अम्भः' नामक जल कहा गया है, वह मौलिक जलतत्त्व है, वही पञ्चीकृत होकर अन्य तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे स्थूल अवस्थामें आकर जलरूपमें परिणत हुआ है।

ब्राह्मण, उपनिषद्, मनुस्मृति,[13] पुराणादिमें सर्वत्र सृष्टिके आरम्भमें 'अप्' की उत्पत्ति कही गयी है। वहाँ स्थूल जलसे तात्पर्य नहीं, रस-रूप द्रव पदार्थ वहाँ 'अप्' या 'अम्भः' शब्दका अर्थ है। वही दिव्य जल है, उसीके स्थूलीभूत होनेपर जल बनता है।

वह (अप्-तत्त्व) सर्वत्र ब्रह्माण्डमें व्यापक है—'सर्वमापो-मयं जगत्।' वेदमन्त्रोंमें कहा गया है कि चन्द्रमा अप्‌के भीतर दौड़ता है। सूर्यके समीप और सूर्यके साथ अप् वर्तमान है—'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।' (ऋग्० १।२३।१७) इत्यादि। भगवान् सूर्य जब उदयाचलपर आते हैं, तब उनकी किरणोंके संघर्षसे वह अप् अपना स्थान छोड़कर दूर हटता जाता है। रसरूप होनेके कारण तेजके साथ इस 'अप्'का स्वाभाविक विरोध है। अतएव जहाँतक सूर्यकी किरणें प्रखरतासे फैलती जाती हैं, वहाँसे उतने प्रदेशके अप्‌को दूर हटाती जाती हैं। ध्रुव-प्रदेशमें जहाँ सूर्यकिरण अति मन्द हो जाती है, वहाँ वह अप् एकत्र हो जाता है। बहुत इकट्ठा हो जानेके कारण वहाँ घनीभूत होकर स्थूल जलके रूपमें आ जाता है और गुरुत्वके कारण वायुमें नहीं ठहर सकता। अतः सुमेरुके शिखरपर गिर पड़ता है। उसे ही 'गङ्गा' कहते हैं।

पुराणेतिहासोंमें सदैव ध्रुवके ऊपरसे सुमेरुपर गङ्गाके जलका गिरना वर्णित है[14]। ध्रुवस्थान ही हमारे इस ब्रह्माण्डकी परिधि है। 'ब्रह्माण्ड' एक पारिभाषिक शब्द है। आकाश अनन्त है। उसका जितना भाग एक सूर्यसे प्रकाशित हो, उसे 'ब्रह्माण्ड' कहेंगे। अनन्त आकाशमें संख्यातीत सूर्य और उतने ही ब्रह्माण्ड हैं। पूर्वोक्त अप्-तत्त्व फैला हुआ है। हमारे ब्रह्माण्डकी परिधिसे दूसरे ब्रह्माण्डकी परिधि भी मिल जाती है। अर्थात् ऐसा भी आकाशका प्रदेश है, जहाँ एक सूर्यका प्रकाश समाप्त होकर दूसरे सूर्यका प्रकाश प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि दूसरे ब्रह्माण्डोंका अप्-तत्त्व भी, जो कि दूसरे सूर्योंकी किरणोंके संघर्षसे परिधितक घनीभूत हो गया है, हमारे ब्रह्माण्डके अप्‌के साथ मिलकर वह गङ्गा रूपमें आ जाता है। अतएव पुराणोंमें गङ्गा नदीको अपर ब्रह्माण्डकी जलधारा भी कहते हैं।

यह भी पुराणोंमें उपवर्णित है कि वामनावतारमें चरण-प्रहार होनेपर नखाग्रसे ब्रह्माण्डका जो ऊपरी गोलक टूटा, वहाँसे जलधारा भीतर प्रविष्ट होती है। उस घटनाका अभिप्राय

---

११. वही, पृ. १८२, १८८-१८९।

१२. स इमाँल्लोकनसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात् ता आपः॥ (ऐ. उ. १. २)

१३. अप एव ससर्जादौ। (मनु० १।८)

१४. (अ) विष्णुपुराणमें विष्णुका तृतीय पद 'ध्रुवलोक' बताया गया है, जो लोकोंका आधारभूत है और वृष्टिका कारण है। वहींसे गङ्गा प्रवाहित होती है।

वामपादाम्बुजाङ्गुष्ठनखस्रोतोविनिर्गताम्।
विष्णोर्बिभर्ति यां भक्त्या शिरसाहर्निशं ध्रुवः॥
(विष्णुपु० २।८।१९)

(आ) 'वामनदेवस्य बलेः सकाशात् त्रिलोकहरणकाले ब्रह्माण्डोपरिगतवामपादाङ्गुष्ठनखजनितविवरेण ब्रह्माण्डोर्ध्वस्थिता या जलधारा तच्चरणस्पर्शेन समधिकपूता सती ध्रुवलोके पपात। ततो देवमार्गेण ब्रह्मसदने पतित्वा सीता-अलकनन्दा चक्षुर्भद्रेति चतुर्धा भूत्वा चतुर्दिशमाश्रित्य लवणसमुद्रे प्रविष्टा।

स्पष्ट रूपमें यह है कि "आधिदैविक भावमें प्रातःकालका सूर्य ही 'वामन' कहा जाता है। उनके नख अर्थात् किरणोंके अग्रभागने जहाँ विवर बनाया है, वहींसे वह जलधारा गिरती है। सप्तर्षि-प्रदेशको ही 'विष्णुपदी' भी कहा जाता है, अतः उस प्रदेशस्थित गङ्गाको 'विष्णुपदी' कहते हैं। और अष्टमूर्ति भगवान् शंकरका केशकलाप यह आकाश है, जिससे शंकरका 'व्योमकेश' नाम प्रसिद्ध है। उस आकाशमें व्यापक रहनेके कारण गङ्गा 'हर-जटा-जूट-वासिनी' कहलाती है। वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि तत्त्वोंका परिवर्तन एक दिनमें नहीं हुआ करता। सैकड़ों, हजारों वर्षोंमें प्रकृतिका एक तत्त्व प्रकृतिके नियमानुसार दूसरे रूपमें जाता है। अतएव अप् भी अपनी सूक्ष्म अवस्थामें हजारों वर्ष रहकर जलरूपमें आया करता है। अतः पुराणोंमें हजारों वर्षोंतक इसका विष्णुपद, शिवजटामें रहना लिखा है। इन सब अर्थोंके पोषक पुराण-वचन निम्नलिखित हैं—विष्णुपुराण (२ । ८ । १०९-११०); महाभारत (भीष्मपर्व, अ० ६) श्रीभागवत पुराण (स्कन्ध ५, अ० १७)।"

श्रीअभिनवगुप्ताचार्यका मत है कि "अग्निरूप प्रजापतिके मूर्धासे उत्पन्न वायुमय एवं व्योमकेश शिवकी वायुमयी (विभिन्न प्राणमयी) जटाओंमें विद्यमान जलोंकी सूचिका 'गङ्गा' है। जटाएँ सप्त रसोंकी परिचायिका हैं। जटास्थित गङ्गा (सप्त रसों) द्वारा गङ्गाधर रुद्र क्षीण ओषधियोंका पुनः-पुनः प्रतिसंधान करते रहते हैं, जिससे ओषधियों, वनस्पतियों और तृणादिकोंके मूल नष्ट नहीं होते। यह प्रभाव रुद्र-जटास्थित गङ्गाजलका ही है।"[१५]

तान्त्रिक परम्परामें 'गङ्गाधर'का अर्थ सूर्यद्वारा वृष्टिजलका धारण करना है।[१६] महाभारत और नीलमतपुराण जब गङ्गाको 'सूर्यपुत्री' कहते हैं,[१७] तब उनका यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि सूर्यकिरणें अन्तरिक्षमें स्थित घनीभूत अप्-तत्त्वको जलरूपमें पृथ्वीपर बरसा देती हैं। स्कन्दपुराण एवं मार्कण्डेयपुराणमें सोमको अमृतकी योनि एवं जलका आधार बताया गया है। इन पुराणोंके अनुसार गङ्गा सोममण्डलसे होकर सूर्य-किरणोंकी संगतिसे पावन होकर मेरुपृष्ठपर आती है।[१८]

उपरिलिखित विवेचना एवं उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो गया है कि आधिदैविक रूपमें गङ्गा' शब्द स्थूल जलके मूल सूक्ष्म अप्-तत्त्व, सोम या रसतत्त्वका बोधक है, जो विश्वरूप है एवं सर्वत्र व्यापक है। पुराणकार गङ्गाके इस सूक्ष्म रूपसे परिचित हैं। इसीलिये ब्रह्मपुराण गङ्गाको जलोंके सारसे निर्मित बताता है एवं महेश्वर-जटा-स्थित जलको जलदेवियाँ (आपो देव्यः) कहता है।[१९] इसी अर्थमें स्कन्द-पुराणमें वर्णित गङ्गाका शिवकी तोयात्मिका मूर्ति होना भी उपयुक्त जँचता है।[२०] इस प्रकार आधिदैविक रूपमें गङ्गाके अप्-रूप या सोमरूप होनेपर शंकर अपने आधिदैविक रूपमें प्राणतत्त्वके आधार अग्नि, सूर्य एवं आकाश प्रतीत होते हैं।

सम्भवतः ऐसा ही विचार कर प्रो० लुईस रेनोने यह विचार व्यक्त किया है कि "गङ्गावतरण' सृष्टिनिर्माणसम्बन्धी पुराणकथा है, जो सृष्टिनिर्माणके बादके स्तरका वर्णन करती है।[२१]"

डा० वासुदेवशरण अग्रवालने अपने ग्रन्थ 'शिव-महादेव'में गङ्गावतरणकथाकी सृष्टिपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके मतमें "रुद्र शाश्वत प्राणशक्तिके दिव्य केन्द्र हैं, गङ्गा प्राणशक्ति या जीवनकी धारा है, रुद्रकी जटाएँ पञ्चभूतोंका अनन्त विस्तार हैं या जगत्के जटिल विविध प्रपञ्चका रूप हैं, भगीरथ सूर्य है, भगीरथका रथ-चक्र सूर्यकी चक्राकार गति है, जिसका अनुगमन गङ्गाकी जीवन-धारा करती है।" श्रीअग्रवाल लिखते हैं—"गङ्गा अमर्त्य स्वर्गसे मर्त्य पृथ्वीलोकपर प्रवाहित होती हुई जीवनकी नदी है। शिवकी जटाएँ विश्व या सृष्टिकी अनन्त विविधरूपताका प्रतीक है। शिवकी जटाएँ संसारके प्रपञ्चकी भाँति ही विशाल और जटिल हैं। जीवनकी धारा सृष्टिकी रचनाके

१५. श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्य, 'रुद्रदेवता-तत्त्व' (नामक लेखमें उद्धृत), कल्याण, जनवरी १९६२, पृ० ५७०.

१६. स्वामी शंकरानन्द, 'ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ प्रीहिस्टरिक इण्डिया' (Rigvedic Culture of Pre-Historic India), भाग २, पृ० ५३.

१७. (अ) तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ महाभारत, वनपर्व, ८५ । ७४

(आ) तपनस्य सुता या च या च गङ्गा सरिद्वरा ॥ नीलमतपुराण, श्लोक ३९३.

१८. मार्कण्डेयपुराण ५६ । १ । १०; स्कन्दपुराण, अवन्ती-खण्ड ४२ । १ । १०

१९. ब्रह्म पु० ७२ । २५-२७; ७४ । २

२०. स्कन्दपु०, काशीख० २७ । ७

२१. लुईस रेनोः 'रिलिजन्स ऑफ एन्सेण्ट इण्डिया (Religions of Ancient India). पृ० ६१

प्रत्येक अङ्गको सब ओरसे आप्लावित एवं रस-सिक्त करती है। प्राण-शक्तिका यह प्रवाह तबतक गुप्त रहता है, जबतक मानवोंकी भक्ति एवं तपके द्वारा प्रसन्न हुए भगवान् शिव इसे उन्मुक्त नहीं कर देते। नदीका नाम 'गङ्गा' उसके गमनात्मक गुणके कारण पड़ा है।[२२], आदिकालसे लेकर अनन्तकालतक जीवनकी यह शक्तिमयी धारा अबाध प्रवाहित होती रहती है तथा अपने जलसे सभी शरीरों या पदार्थ-रूपोंको पवित्र बनाती है। गङ्गा स्वर्ग और पृथ्वी, अमर्त्य और मर्त्यके मध्य प्रवाहित होनेवाली जीवनकी लयात्मक गतिशील धारा है। वस्तुतः यह जीवनकी महानदी है, जिसकी अनिवार्य प्रकृति है—गति, सतत गमन।

गङ्गा वैदिक सरस्वती है। सरस्वती प्राणशक्तिके शाश्वत स्पन्दन एवं मन तथा आत्माके सभी प्रेरणात्मक सूत्रोंकी प्रतीक है। गङ्गामें भी सरस्वतीकी यह प्रकृति समाहित है। गङ्गा भी सरस्वतीकी भाँति अति पवित्र पावन करनेवाली एवं मुक्तिदात्री है।

भगीरथ सूर्यका प्रतीक है, जिसका भग—दिव्य तेज उसके देवरथको घुमा, चला रहा है। काल-चक्र एवं सौर जगत्में बढ़नेवाले सभी वनस्पतियों एवं प्राणियोंका स्रोत यह सौर-केन्द्रका नियामक सूर्य है। गङ्गा इसी सूर्यके रथचक्रका अनुसरण करती है। गङ्गाका स्पर्श भस्म (प्राणरहित) को जीवित सृष्टिके रूपमें बदल देता है, जो पुनर्जीवन पाकर पुनः गङ्गा (प्राणशक्ति) के केन्द्र स्वर्गको चला जाता है।

सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती हुई पृथ्वीकी गतिद्वारा उत्पन्न तीस दिन और तीस रातका प्रतीक 'साठ' संख्या, कालके परिभ्रमात्मक एवं गत्यात्मक रूपका प्रतीक है। 'सहस्र'[२३] संख्या अनन्तताका वाचक है। सूर्यकी अनन्त किरणें अथवा उसका अनन्त गतितत्त्व ही उसके रथ-चक्रको चलाता रहता है।[२४]

यह तो हुई गङ्गाके आधिदैविक सूक्ष्म रूपकी सृष्टि-परक व्याख्या। अब इसके सूक्ष्मतम आध्यात्मिक रूपपर भी विचार कर लिया जाय। महाभारतके अनुशासनपर्व (२६। ८४-९५) की गङ्गास्तुतिमें गङ्गाके लिये निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त हुए हैं—मधुमती (कर्मफल या ब्रह्मानन्दको देनेवाली), पृश्नि (अदिति); बृहती (वाक्), भगिनी (ऐश्वर्यवाली), विभावरी (प्रकाशिका), मधुस्रवा (धर्म या ब्रह्मानन्दरूपी मधुका स्रवण करनेवाली), घृतधारा (तेजोधारा), घृतार्चिः (दितिमती, वर्चस्विनी), वरिष्ठायोनि (परम कारण); विरजा (रजोगुणरहित, निर्मल, निष्पाप), वितन्वी (अतिशय सूक्ष्म), ऋषिस्तुता, विष्णुपदी, पुराणा, उस्रा (अमृतदुग्धा धेनु), मिषती (पश्यन्ती, सर्वज्ञा), अमृता, ब्रह्मकान्ता (ब्रह्मपद-प्राप्तिकी कामनावाले जितेन्द्रिय जनोंद्वारा उपास्या)।

गङ्गाके ये नाम और विशेषण उसके गुह्य आध्यात्मिक परमरूपकी ओर संकेत करते हैं। वराहपुराण, पद्मपुराण, हरिवंश, आचार्य नीलकण्ठ और आचाय सदानन्द इस अध्यात्म रूपकी व्याख्या करते हैं। वराहपुराणके गङ्गास्तवमें गङ्गाको धर्मका तरलरूप बताया गया है—

> धर्मस्तु द्रवरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।
> तद्वै गङ्गेति विख्याता शृणु स्तोत्रं वसुंधरे॥

पद्मपुराण (स्वर्गखण्ड ६१। ६८१-७०) के अनुसार—

> 'विष्णुरूपा हि सा गङ्गा लोकनिस्तारकारिणी।'
> 'केशवो द्रवरूपेण पापात् तारयते महीम्॥'

२२. सङ्गमाद् गमनाद् गङ्गा लोके देवी विभाव्यते॥ देवीपुराण, अ० ४५.

२३. गङ्गावतरण-कथाके अनुसार ऋषि कपिलके शापसे दग्ध अपने पूर्वज सगरके साठ हजार पुत्रोंके उद्धारके लिये भगीरथने तपस्या की थी एवं श्रीगङ्गा तथा शंकरको प्रसन्नकर इस भूमिपर वे गङ्गाको लाये थे। शंकरने पहले अपनी जटामें स्वर्गसे प्रचण्ड वेगसे उतरती हुई गङ्गाको धारण किया था एवं पुनः भगीरथकी प्रार्थनापर गङ्गाकी एक धाराको भूमिपर छोड़ा था। तब गङ्गा भगीरथके रथका अनुसरण करती तथा सगर-पुत्रोंका उद्धार करती हुई पूर्वसागरसे जा मिली थी। श्रीअग्रवालने यहाँ 'साठ' एवं 'हजार' दोनों संख्याओंको अलग-अलग लेकर व्याख्या की है।

श्रीअग्रवालजीकी इस व्याख्यामें सगरके साठ हजार पुत्रोंको सूर्यके रथचक्रकी प्रेरकशक्तिके रूपमें तथा भगीरथको सूर्यके प्रतीकके रूपमें कल्पित करना चिन्त्य है; क्योंकि मूल कथामें साठ हजार संख्या सगरके पुत्रोंकी है, भगीरथके पुत्रोंकी नहीं। भगीरथको सूर्य मान लें तो इस व्याख्यामें शिवद्वारा गङ्गा-धारणका कथांश अव्याख्यात रह जाता है। इससे अच्छा तो भगीरथको मानव तपका 'प्रतीक' मान लेना अधिक उचित जँचता है, जैसा कि श्रीअग्रवालने अपनी व्याख्याके प्रारम्भमें संकेत दिया है।

२४. वासुदेवशरण अग्रवाल: शिव-महादेव, पृ० ३६.

गङ्गा विष्णुरूपिणी है एवं लोकोंका उद्धार करनेवाली है। स्वयं विष्णु ही गङ्गाद्रवके रूपमें प्रवाहित होकर पृथ्वीको पापसे तारते हैं।'

डॉ० जनार्दन मिश्र द्रवरूपिणी धर्मगङ्गाके स्वरूपकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'गङ्गा चिदानन्दके आनन्द-की अमृतधारा है, ब्रह्मानन्दामृतका प्रवाह है। प्रभु (शिव)-की जटाओंसे आनन्दामृतकी गङ्गा बहकर जगत्की रक्षाके लिये इसे प्लावित कर रही है। अन्यथा, अपने पापादिके हलाहलसे यह जलकर भस्म हो जाय। इसकी उत्पत्ति 'अभीद्ध तप' अर्थात् बृहत्सत्य हिमालयसे होती है। इसका ज्ञान (या प्राप्ति) हिमालय-जैसी महती तपश्चर्या और घोर साधनासे होता है। उसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्मसे है, यही गङ्गा और शिवका विवाह है।'[२५]

आचार्य नीलकण्ठने गङ्गाके विश्वरूपा[२६] नामकी व्याख्या करते हुए अपनी महाभारत-टीकामें लिखा है—

विश्वो विष्णुस्तद्रूपा। तथा च स्मरन्ति—

योऽसौ सर्वगतो विष्णुश्चित्स्वरूपी निरंजनः।
स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नात्र संशयः॥

(नारदपु० उत्तर० ३८। २३)

"सर्वव्यापक निर्गुण चिदात्मकतत्त्व विष्णु है, उसीका द्रवरूप गङ्गाजल है, इसलिये उसे 'विश्वरूपा' कहते हैं।"

नीलकण्ठीके अनुसार हरिवंशके भविष्यपर्वमें गङ्गोत्पत्तिका[२७] सम्पूर्ण वर्णन योगपरक एवं अध्यात्मपरक है तथा यहाँ गङ्गाको ब्रह्मवादिनी सरस्वतीके रूपमें परिणत होती हुई वर्णित किया गया है।[२८] आचार्य नीलकण्ठने इन श्लोकोंकी अपनी व्याख्यामें मन्त्रशास्त्रके प्रमाणके आधारपर भ्रूमध्यमें मेरुशिखरकी स्थिति एवं इसके आस-पास सप्त-समुद्रों एवं सप्त-पर्वतोंकी स्थिति मानी है। भ्रूघ्राणमध्यस्थ कारण ब्रह्म ही मेरुपृष्ठ है। जहाँ सभी इन्द्रियरूपी देवता निवास करते हैं। मन्दरपर्वत स्थूल प्रपञ्चात्मक जगत्का प्रतीक है। गङ्गाका सुमेरु पर्वतसे मन्दर पर्वतपर आना एवं वहाँसे सप्त धाराओंमें विभक्त होनेका अर्थ है—अव्यक्त ब्रह्मज्ञानका वैखरीभावको प्राप्त हो सप्तस्वरोंमें विभक्त होकर स्थूल प्रपञ्चात्मक ज्ञानमें परिणत होना।

हरिवंशके 'सोमसे सोम उत्पन्न हुआ।'[२९] इस वाक्यके तात्पर्यको स्पष्ट करते हुए सदानन्दने लिखा है कि "उमारूपिणी ब्रह्मविद्यासे युक्त ब्रह्मानन्दमूर्ति महेश्वर 'सोम' हैं। अद्वैत ज्ञान-का सुख सलिल है, जो उनकी ज्ञानमूर्ति है। उस अद्वैतज्ञान सुखकी उत्पत्ति एवं उसकी सतत प्रवहमान धारासे अभिषिक्त होकर तत्त्वज्ञ अपने आत्मानन्दके साम्राज्यमें प्रतिष्ठित होता है। उस ब्रह्मज्ञानानन्दमूर्ति गुरु सोमसे अन्य पुरुष भी उपदेश पाकर ब्रह्मात्मविद्याको जानकर सोम (ब्रह्मज्ञानी) बन जाता है। यही सोमसे सोमकी उत्पत्ति है। ब्रह्मानन्दमयी गङ्गा प्रादुर्भूत होनेपर तत्त्वज्ञानीकी बुद्धि, चित्तेन्द्रियादि वर्गोंमें भी फैलकर उन्हें भी अपनी धारासे आप्लावित कर देती है। तब बुद्धि आदि भी ब्रह्मज्ञानयुक्त एवं ब्रह्मसुखप्रवण हो जाते हैं। यही गङ्गा सभी वर्णों एवं आश्रमोंद्वारा सेवनीय तथा साध्य है। इसी तात्पर्यमें गुरुवाक्य एवं वेदान्तवाक्यों-की सफलता निहित है।[३०]"

सदानन्दके उपर्युक्त तात्पर्य-विवेचनसे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मज्ञानी गुरु शिवस्थानीय सोम है। ब्रह्मका अद्वैतज्ञान (अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म) गङ्गाकी धारा है। योग्य अधिकारी शिष्यकी प्रातिभ गुरुद्वारा गुह्यब्रह्म-ज्ञानको अपनी बुद्धि (मस्तिष्क)की गुहामें गुप्त रखना गङ्गाको जटामें छिपाना है। शास्त्रीय ज्ञान एवं विवेकके प्रकाशसे युक्त बुद्धिके नियन्त्रणद्वारा अपनी इन्द्रियोंको संयमित रखनेवाला (भं ज्योतिष्कमण्डलं गीर्वाङ्मयं तत्र रथ इन्द्रियाणि रथ इवास्य सः भगीरथः[३१]) तपस्वी, जिज्ञासु,

२५. जनार्दन मिश्र (भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० ४२८।४३३)

२६. महाभारत, भीष्मपर्व ६। २८।

२७. हरिवंश, भविष्यपर्व २८। ५१—६१

२८. सैषा गङ्गा फलं लेभे पुष्करेण समाहिता।
सुतपा चन्द्रविहिता लोकानां धारणे रता॥
सरस्वतीं स्वरैर्व्यक्तैरधीते ब्रह्मवादिनी।
पृष्ठात् प्रयाता शैलेन्द्रे मन्दरे मन्दगामिनी॥
(हरि०, भविष्य० २८। ५९-६०)

२९. सोमात् सोमः समुत्पन्नो धारासलिलविग्रहात्।
(हरि०, भविष्य० १७। २३)

३०. सदानन्दकृत 'महाभारततात्पर्यप्रकाश' (हरिवंशतात्पर्य-प्रकाश पृ० २७०)

३१. शब्दकल्पद्रुम, तृतीय भाग पृ० ४७३ (देखिये—'भगीरथ'-शब्द)।

भगीरथ सुयोग्य शिष्य हैं। भलीभाँति सुपरीक्षित अधिकारी शिष्यको ब्रह्मज्ञान देना, शिवका भगीरथके लिये स्वजटा-वासिनी गङ्गाकी धाराको प्रवाहित करना है।

इस प्रकार गङ्गा अपने भौतिक रूपमें भगवान्की दिव्य विभूति है।[३२] आधिदैविक रूपमें सृष्टिमें सर्वत्र व्यापक जलके सूक्ष्मरूप सोम या अप्-तत्त्व एवं रसतत्त्वका वाचक होनेसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका आधार एवं सर्वभूतोंको जीवन देनेवाली है एवं अपने सूक्ष्मतम आध्यात्मिक रूपमें धर्मद्रव ब्रह्मानन्द एवं ब्रह्मज्ञानकी धारा है। यदि गङ्गाके इन तीनों रूपोंको हम एक साथ हृदयंगम कर सकें तथा इस पुण्यसलिला-का सतत स्मरण एवं नित्य सेवन कर सकें तो अवश्य ही यह हमें त्रितापसे मुक्त कर ब्रह्मानन्दमें मग्न कर देगी। गङ्गा अपने धातुमूलक अर्थसे ही भगवत्पदकी ज्ञापिका, प्रापिका एवं इसीलिये मोक्षार्थियोंद्वारा उपास्य है।[३३]

महाभारतमें गङ्गा सर्वलोकनमस्कृता वरदा दिव्य महानदीके रूपमें चित्रित हुई हैं। महाभारतमें गङ्गाका लक्ष्यालक्ष्यरूप प्रकट हुआ है। गङ्गा भगीरथकी उपासनासे प्रकट होकर स्वयं उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन तथा वर देती हैं।[३४] महाभारतके अनुशासनपर्व (अ० २६) में गङ्गाको परमपावनी एवं मनुष्योंके लिये अमृततुल्या बताया गया है। जो गङ्गाभक्त तद्भावभावित, तद्गतमना, तन्निष्ठ और तत्परायण होता है, वह अपनी एकनिष्ठ भक्तिके कारण गङ्गाको प्रिय होता है। गङ्गा भक्तवत्सला है, वह अपने भक्तोंको सभी सुखोंसे युक्त करती है तथा मृत्युके बाद उन्हें मोक्ष प्रदान करती है। महाभारतकारका विश्वास है कि 'गङ्गां गता ये त्रिदिवं गतास्ते (अनु० २६। ८६। ९४)—जो गङ्गाको प्राप्त करते हैं, वे स्वर्ग पहुँच जाते हैं।' गङ्गाभक्त शीलवृत्तिको गङ्गाकी विधिवत् उपासनासे दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं। अनुशासनपर्वमें देवनदी गङ्गा ऐसी नारी देवताके रूपमें चित्रित हुई हैं, जो सभी तीर्थोंसे युक्त, नदियोंमें श्रेष्ठ, पापभयहारिणी सर्वधर्मविशारदा एवं बुद्धि तथा विनयसम्पन्ना हैं।[३५] इस प्रकार शास्त्रोंमें उनका देवरूप भी भलीभाँति प्रकाशित है। अन्तमें प्रार्थना है—

ॐ नमः शिवायै गङ्गायै शिवदायै नमोऽस्तु ते।
नमोऽस्तु विष्णुरूपिण्यै गङ्गायै ते नमो नमः॥
त्वमेव मूलप्रकृतिस्त्वं हि नारायणः प्रभुः।
गङ्गे त्वं परमात्मा च शिवस्तुभ्यं नमो नमः॥
(नारद० उत्तर० ४३। ६९। ८४)

श्रीगङ्गाजीकी महिमा

पवित्राणां पवित्रं या मङ्गलानां च मङ्गलम्। महेश्वरशिरोभ्रष्टा सर्वपापहरा शुभा॥

भगवान् शंकरके मस्तकसे होकर निकली हुई गङ्गा सब पापोंको हरनेवाली और शुभकारिणी हैं। वे पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाली और मङ्गलमय पदार्थोंके लिये भी मङ्गलकारिणी हैं।

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

जो सैकड़ों योजन दूरसे भी 'गङ्गा, गङ्गा' ऐसे कहता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकको प्राप्त होता है।

स्नानात् पानाच्च जाह्नव्यां पितॄणां तर्पणात्तथा। महापातकवृन्दानि क्षयं यान्ति दिने दिने॥

गङ्गाजीमें स्नान, जलका पान और उससे पितरोंका तर्पण करनेसे महापातकोंकी राशिका प्रतिदिन क्षय होता रहता है।

तपोभिर्बहुभिर्यज्ञैर्व्रतैर्नानाविधैस्तथा। पुरुदानैर्गतिर्या च गङ्गां संसेव्य तां लभेत्॥

तपस्या, बहुत-से यज्ञ, नाना प्रकारके व्रत तथा पुष्कल दान करनेसे जो गति प्राप्त होती है, गङ्गाजीका सेवन करनेसे मनुष्य उसी गतिको पा लेता है।

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति। अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥

गङ्गाजी नाम लेनेमात्रसे पापोंको धो देती हैं, दर्शन करनेपर कल्याण प्रदान करती हैं तथा स्नान करने और जल पीनेपर सात पीढ़ियोंतकको पवित्र कर देती हैं। (पद्मपुराण)

---

३२. 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' (भगवद्गीता १०। ३१)
३३. गमयति प्रापयति ज्ञापयति या भगवत्पदं सा शक्तिः—यद्वा गम्यते प्राप्यते ज्ञाप्यते मोक्षार्थिभिर्या। गम गतौ+गन् उणादि सू० १। १२८॥ शब्दकल्पद्रुम।
३४. महाभारत, वनपर्व अ० १०८
३५. वही—अनु० पर्व, अ० १४६

प्रार्थना

[जीवन-सहचरसे]

सबपर कृपा करो

भगवती श्रुति कहती है--'एक पीपलपर सुन्दर पंखवाले दो पक्षी सदा साथ-साथ रहते हैं, दोनों एक दूसरेके सखा हैं। उनके नाम भी प्रायः एक-से हैं। पीपलपर बड़े स्वादिष्ट फल लगे हैं। एक पक्षी वृक्षके उन सुस्वादु फलोंका रस लेता है, किंतु दूसरा केवल देखता है, कुछ खाता-पीता नहीं है।' श्रुतिने रूपक या प्रहेलिकाकी भाषामें जिस अनादि सत्यकी ओर संकेत किया है, उसे इस प्रकार जाना जा सकता है। शरीर ही वह अश्वत्थ वृक्ष है और कर्म-फल-भोग ही सुस्वादु फलोंका रसास्वादन है तथा वे दोनों पक्षी हैं--जीवात्मा एवं परमात्मा--मैं और तुम। वृक्ष और फलभोक्ता पक्षी तो असंख्य हैं, किंतु दूसरा पक्षी तुम एक ही हो। तुम्हीं हर वृक्षपर हर घोंसलेमें प्रत्येक पक्षीके साथ बैठे दृष्टिगोचर होते हो। जीवात्मस्वरूप वे असंख्य पक्षी जातितः एक हैं और मैं अकेला ही उन सबका प्रतिनिधित्व करता हूँ, सबकी ओरसे बोलता हूँ, जिज्ञासा करता हूँ। कहनेका मतलब यह कि आजकी इस वार्ता या गोष्ठीमें दो ही पक्षी हैं—मैं और तुम।

हम दोनोंका यह सनातन सख्य-सम्बन्ध कबसे, कितने युगोंसे चला आ रहा है, कौन कह सकता है? मेरे अनन्त जन्मोंमें अनन्त वृक्षोंपर अनन्त घोंसले बनते आये हैं और तुम सदा एक ही, जैसे-के-तैसे रहते आये हो। जन्म और मृत्यु तुम्हारी छायातकको छू नहीं सकी। मेरे प्रत्येक नीड़में तुम पहलेसे ही सक्रीड बने बैठे रहे हो। मैं फलोंका उपभोग करके भी कभी तृप्त न हो सका और तुम बिना कुछ खाये-पीये ही नित्य निरन्तर परितृप्त बने रहे। एक मैं हूँ कि दुःख मेरा पीछा नहीं छोड़ता और एक तुम हो कि दुःख तुम्हारे पासतक कभी फटकने नहीं पाता? तुम सदा सुख या आनन्दके ही अपार पारावारमें गोता लगाते रहते हो। नहीं, नहीं, वह अनन्त निस्सीम सुख ही तुम्हारा स्वरूप है।

तुम हर वृक्षके प्रत्येक नीड़में मेरी रक्षाके लिये, मेरे हित-साधनके लिये ही मेरे पास स्थित रहे, किंतु मैं कभी तुम्हारी ओर उन्मुख न हो सका। भोगासक्तिके कारण इस अनित्य तथा असुख लोकमें ही सुख मानता और ढूँढता रहा। सच कहता हूँ, सदा निराशा ही हाथ लगी। अनन्त वृक्षों और असंख्य घोंसलोंमें भटकते रहनेका ही दुःखमय दण्ड भोगता रहा। फिर भी मेरी आँखें न खुलीं, मैं चेत न सका।

ऐसा क्यों हो रहा है, मेरे नित्य सहचर! मैं कबतक इस तरह भवचक्रमें भटकता और पिसता रहूँगा। विज्ञजन कहते हैं--'तुम अज्ञान और मोहसे आच्छन्न हो। तुम्हारे हृदय-स्थलमें भगवद्भक्तिकी भागीरथी प्रवहमान नहीं है; अतः तुम्हें भव-चक्रसे छुटकारा नहीं मिल सकता, भगवदीय आनन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी। तुम्हें कठोर साधना करनी होगी।'

क्या यह सच है? क्या मुझे कठोर साधना किये बिना अपार संसार-सागरसे निस्तार नहीं मिल सकेगा? साधनाका तो नाम ही सुनकर मेरे प्राण सूख जाते हैं। सुना है, 'जो अनेक जन्मोंतक साधना करके संसिद्ध होता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।' परंतु मुझमें इतना धैर्य और साहस कहाँ कि अनेक जन्मोंतक साधना चला सकूँ। मैं तो सब कुछ इसी जन्ममें और तत्काल पाना चाहता हूँ। क्या

ऐसा होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ? तुम्हारी गीता कहती है कि 'जो तुम्हें सम्पूर्ण भूतोंका सुहृद् जान लेता है ।' वह शान्ति पा जाता है, किंतु मुझे तो तब शान्ति मिलेगी, जब तुम मिल जाओ । तुम्हारी ही घोषणाके अनुसार मैंने जान लिया और विश्वास कर लिया कि 'तुम सर्वलोकमहेश्वर हो, यज्ञ-तपके भोक्ता हो, साथ ही सम्पूर्ण भूतोंके सुहृद् हो ।' क्या उन सम्पूर्ण भूतोंमें मेरी भी गणना नहीं हो सकती ? तुम्हारी ही वाणीने यह सिद्ध कर दिया है कि 'तुम मेरे भी सुहृद् हो', तब मुझे शान्ति देनेके लिये क्या तुम मुझे मिल नहीं सकते ? मेरी आँखोंसे मायाका पर्दा हटाकर मुझे अपने त्रिभुवन-मोहन दिव्य रूपका दर्शन नहीं करा सकते ? मैं तो निर्बल हूँ, असहाय हूँ, साधनहीन और वासनाओंके पराधीन हूँ । मन और इन्द्रियोंको भी वशमें नहीं कर पाता हूँ । काम आदि शत्रु मुझे पराजित करके नाना प्रकारके नाच नचाते हैं । परंतु तुम ? तुम तो सर्वशक्तिमान् हो, स्वतन्त्र हो, यदि अपने इस दयनीय दीन सुहृद्को कृपापूर्वक अपनानेके लिये स्वयं ही आगे बढ़ो तो तुम्हें कौन रोक सकता है ? मैं एक ही बात जानता हूँ, कोई कठोर-से-कठोर साधना करके भी उसके द्वारा तुम्हें खरीद नहीं सकता । तुम प्रेमीके हाथ बिना मोल बिक जाते हो, यह नितान्त सत्य है; किंतु मुझमें वैसा प्रेम कहाँ है ? मुझे एक ही भरोसा है—'प्रभु मूरति कृपामयी है' तुम स्वयं कृपा करके जिसको जो चाहो, दे सकते हो । यह ठीक है कि मैं तुम्हारी कृपा पानेके योग्य पात्र नहीं हूँ, परंतु तुम चाहो तो क्या मैं योग्य पात्र नहीं बन सकता ? तुम्हारे संकल्पमात्रसे मेरी जन्म-जन्मकी दुर्बलताएँ क्या क्षणभरमें ही दूर नहीं हो सकतीं ? फिर पात्र बननेमें कितनी देर लगेगी ?

तुम्हारा माना हुआ सुहृद् वासनाओंके नरक-जालमें आबद्ध हो अनन्त कालतक दुस्सह यातनाएँ भोगता रहे और तुम उसके उद्धारके लिये कुछ कर न सको या करना न चाहो, क्या यह तुम्हारे लिये कोई शोभा या गौरवकी बात है ? क्या माता-पिता कीचड़ या मलमें सने हुए अपने स्नेहभाजन शिशुसे यह आशा रखते हैं कि वह नहा-धोकर पहले शुद्ध हो ले, तब हमारी गोदमें आवे ? वे तो अपनी सहज वत्सलताके कारण ही स्वयं दौड़कर बालककी धूल झाड़ते हैं, उसके तनपर लिपटी कीचड़को धोते-पोंछते हैं और स्वयं साफ-सुथरा करके उसे सस्नेह अङ्कमें भर लेते हैं । क्या एक सर्वसमर्थ सुहृद् अपने दयनीय सखाके उद्धारके लिये अपनी सम्पूर्ण शक्तिका एक क्षुद्रतम अंश भी नहीं लगा सकता ? क्या वह तटस्थ रहकर उससे अनेक जन्मोंतक साधना करवायेगा ? अपनी कृपादृष्टिसे ही उसे तत्काल कृतकृत्य नहीं कर देगा ?

जब यही सत्य है कि 'करी गोपाल की सब होय ।' तब तुम दूर खड़े होकर सबको अपनी शरणमें क्यों बुलाते हो ? क्या तुम्हारे संकल्पमात्रसे ही सब तुम्हारी शरणमें नहीं आ सकते ? कोई कहीं भी क्यों न हो, सब तुम्हारी शरणमें ही हैं । तुम्हारी शरणसे बाहर कुछ भी है ही नहीं । अतः तुम सबको शरणागत ही मानकर क्यों नहीं पाप-तापसे मुक्त कर देते हो ? हे जीवमात्रके नित्य सहचर ! परम सहायक गोपाल ! जिसके ऊपर जिस भावसे रीझ सको, उसमें वही भाव स्वयं जगा दो और उस-उस भावसे आकृष्ट हो एक साथ ही सबको गले लगा लो । बताओ, मेरे जीवनसंगी ! क्या तुम ऐसी कृपा कभी कर सकोगे ?

—तुम्हारा अपना ही एक अकिंचन

संत कनकदास

(लेखक—श्रीरामलाल)

संतके परम पवित्र चरितामृतका रसास्वादन उन प्राणियोंके लिये परम सौभाग्यका विषय है, जिनकी जीवन-विधि—रहनी भगवद्भक्तिकी मधुरिमासे सम्पूर्णतः सम्प्लावित रहती है, जिनकी रसमयी वाणीमें सत्यके प्रति प्रीति या अनुरक्तिकी मन्दाकिनी प्रवाहित रहती है, जिनके प्राणोंमें, चित्तवृत्तियोंके तार-तारमें अध्यात्म-माधुर्यका दिव्य संगीत झंकृत होता रहता है।

संत भगवद्भक्ति और भगवद्रूप-माधुर्यके वितरणसे लोक-जीवनको कृतार्थ किया करते हैं; ऐसे ही संत थे कर्णाटक प्रदेशको अपनी पवित्र उपस्थितिसे गौरवान्वित करनेवाले पुरन्दरदास, कनकदास, विठ्ठलदास, वेङ्कटदास, विजयदास तथा कृष्णदास आदि। इन संतोंने कन्नड़-साहित्यको वैष्णव धर्मके रससे आप्लावित किया। पण्ढरपुरके विठ्ठलकी, तिरुपतिके भगवान् वेङ्कटेशकी और उडुपिके कृष्णकी भक्ति-मन्दाकिनी प्रवाहित कर हरिदास-पन्थ अथवा दासकूटकी स्थापना की। दासकूटके कारण ही कर्णाटकका वैष्णव साहित्य अक्षुण्ण है। संत कनकदासने कर्णाटकमें निर्मल हरिभक्तिका प्रचार किया। उन्हें महाभारत-का विदुर कहा जाता है। सोलहवीं शताब्दीके महान् वैष्णव संतोंमें उनकी गणना होती है। विजयनगर साम्राज्यके कुलगुरु लब्धप्रतिष्ठ संत और अध्यात्ममर्मज्ञ महामति व्यास-रायसे गुरुदीक्षा प्राप्तकर संत पुरन्दरदास और कनकदासने तत्कालीन वैष्णव-जीवनका जो निर्मल-निष्पक्ष आदर्श प्रस्तुत किया, उससे कन्नड़ ही नहीं, समस्त भारतीय वैष्णव-साहित्य अथवा भक्ति-साहित्यकी समृद्धि-वृद्धिमें उनका विशिष्ट योगदान स्वीकार किया जा सकता है। गुरु व्यासराय उच्चकोटिके विद्वान् और महान् दार्शनिक थे। उन्होंने कन्नड़भाषामें अनेक सरस पदोंकी रचना की। गुरुके चरणचिह्नोंका अनुसरण कर संत पुरन्दरदासने कर्णाटक संगीतकी श्रीवृद्धि की तथा कनकदासने अपने भक्तिपूर्ण आचरण, दार्शनिक सिद्धान्त और सरस वाणीसे कन्नड़ साहित्य-में नवजागरणका प्रभात प्रस्तुत किया। संत कनकदासके गुरु माध्वमतके आचार्य थे, इसलिये कनकदासका जीवन माध्व-सम्प्रदायकी भक्ति-पद्धति—दास्यभक्तिसे सर्वथा सम्पन्न था। हरिदास-पन्थपर चलनेवाले कनकदासके जीवनसे यह सिद्ध होता है कि समस्त प्राणी भगवद्भक्तिके अधिकारी हैं। बाह्याडम्बर और बाह्याचार—दोनोंसे उदासीन अथवा तटस्थ रहकर अन्तःकरणकी पवित्रता और भगवान्‌की भक्ति-के अर्जनपर ही विशेष बल देनेसे मानव-जीवन कृतार्थ होता है। हरिदास-पन्थका प्राण सदाचार है।

कर्णाटक प्रदेशके भक्ति-आन्दोलनकी प्रगतिमें महामति व्यासतीर्थ अथवा व्यासराय और उनके प्रमुख शिष्य संत कनकदास और पुरन्दरदासने अप्रतिम योगदान देकर श्रीमध्वाचार्यद्वारा प्रवर्तित द्वैतसिद्धान्तपरक वैष्णव धर्मका बड़ी तत्परतासे संरक्षण किया। संत कनकदासके वैष्णव धर्माचरणमें आचार्य रामानुजके प्रति भी उनकी निष्ठाका पता चलता है। उन्होंने आचार्य रामानुजकी भी स्तुति की है। वे संत पुरन्दरदासके भी महान् प्रशंसक थे। यद्यपि हरिदास-पन्थ और दास-साहित्यके समुन्नयनमें संत कनकदास और पुरन्दरदासका असाधारण सहयोग माना गया है, तथापि उनसे ६०० साल पहले प्रायः नवीं शताब्दीमें ही श्रीअचला-नन्ददासने दास-साहित्यकी सृष्टि की थी और तत्पश्चात् श्रीनरहरितीर्थ तथा पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दीमें श्रीपादराय एवं व्यासराय आदिने दास-साहित्यका विशेषरूपसे पोषण किया। संत कनकदास और पुरन्दरदास आदि हरिदासोंने कलियुगमें श्रीभगवन्नाम-स्मरणको अत्यधिक महत्त्व दिया। संत कनकदासकी रचनाओंमें भगवन्नामानुराग, भगवद्भक्ति और वैराग्यके उत्कर्षका बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। निस्संदेह वे कन्नड़-भक्ति-साहित्यकी अप्रतिम विभूति थे।

संत कनकदासका समय १५०८ ई०से १६०६ ई० तक निश्चित किया गया है। उन्होंने १५०८ ई०के अक्टूबर मासमें एक महार—गड़ेरियेके घरमें कर्णाटक प्रदेशके धारवाड़ जनपदके बाँकपुर मण्डलके बाड़ गाँवमें जन्म लिया था। उनके पिता वीरनायक और माता बाच्छम्मा तिरुपतिके भगवान् श्रीनिवासकी भक्तिमें दत्तचित्त थे। दम्पतिकी हार्दिक प्रार्थनाके फलस्वरूप भगवान् श्रीनिवासकी प्रसन्नता और कृपाके सजीव प्रतीक संत कनकदासने कलियुगके कोटि-कोटि प्राणियोंके उद्धारके लिये पृथ्वीपर जन्म लिया। दम्पतिने नवजातका नाम थिमप्पा रखा। थिमप्पाका मन पढ़ने-लिखनेकी अपेक्षा साहस तथा वीरताके कामोंमें अधिक

लगता था। वे बचपनमें भी अपने-आपको एक दिव्य भागवती शक्तिसे अनुप्राणित अनुभव करते थे। बीस साल-की अवस्थामें उनका विवाह कर दिया गया। थोड़े ही समयमें उनके माता-पिता तथा स्त्रीने परलोककी यात्रा की। थिमप्पाके जीवनमें वैराग्यकी शक्ति और भगवान्‌की निर्मल-निष्काम भक्ति बढ़ने लगी; उन्हें संसारकी असारताका पता चल गया था। मन भगवच्चरणोंमें आत्म-समर्पणके लिये पूर्ण समुत्सुक हो उठा। उन्होंने अपने ही गाँव—वाड़में प्रतिष्ठित भगवान् आदिकेशवके प्रति बड़ी भक्ति की। उनके मनको श्रीआदिकेशवने अपने अनुरागमें पूर्णरूपसे रँग दिया। इसके बाद धारवाड़ जनपदमें स्थित कागिनेल गाँवमें श्रीआदिकेशवके मन्दिरके पवित्र वातावरणमें संत कनकदासने अपना समय सार्थक किया। उन्हें कागिनेलमें ही श्रीआदिकेशवने दर्शन देकर कृतार्थ किया। वे भगवदनुग्रहसे सम्पन्न हो उठे। उन्होंने भगवान् आदिकेशवके चरणदेशमें आत्मसमर्पण कर दिया; उनके प्रति पूर्ण प्रपत्तिके माध्यमसे संत कनकदासने लोगोंको संसार-सागरसे पार उतरने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका सन्मार्ग बताया। कागिनेलमें ही भगवान् आदिकेशवने उन्हें स्वप्नमें दर्शन देकर कहा कि मध्वाचार्यकी परम्पराके ही महान् विद्वान् और संत श्रीव्यासरायसे हाम्पी जाकर गुरु-मन्त्रकी दीक्षा लेनी चाहिये। वे भगवान्‌के आदेशसे हाम्पीके लिये चल पड़े। श्रीव्यासरायने थिमप्पाको देखते ही कहा कि तुम्हें भैंसेके मन्त्रके सिवा दूसरे मन्त्रकी क्या आवश्यकता है। उन्होंने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर भैंसेके मन्त्रकी प्रार्थना की। तत्काल ही एक अलौकिक भैंसा प्रकट हो गया। श्रीव्यासरायने कहा कि 'एक पुराने पाषाणखण्डके कारण सिंचाईकी नालीसे पानी ठीक तरहसे नहीं निकल पाता है; पत्थर जलके प्रवाहको रोक लेता है। लोगोंने इसे हटाने तथा तोड़नेका अथक प्रयास किया, पर वे निष्फल रहे।' भैंसेने तत्काल ही पाषाणखण्ड तोड़कर चूर-चूर कर दिया और वह देखते-ही-देखते क्षणमात्रमें अदृश्य हो गया। श्रीव्यासरायकी परीक्षामें थिमप्पाने आगमें सोनेकी तरह शुद्ध होनेकी सफलता पायी। श्रीव्यासरायने थिमप्पाको अपना शिष्य बना लिया; गुरुमन्त्र प्रदान कर कनकदास नाम रखा। कनकदास नामका आशय यह था कि वे आगमें तपाये गये सोनेकी तरह शुद्ध दास—शिष्य थे। उन्होंने गुरुके आदेशसे बेलूर, तिरुपति तथा उडुपि आदि पवित्र तीर्थस्थानोंकी यात्रा की।

भगवान्‌द्वारा भक्तके यशको बढ़ानेका ढंग विचित्र तथा अमित रहस्यपूर्ण होता है। तिरुपतिके आराध्य देवताने स्वप्नमें मन्दिरके महन्तको बताया कि 'कनकदास नामके एक महात्मा दर्शनके लिये पधार रहे हैं; उनके स्वागत-सत्कारमें किसी भी प्रकारकी कमी न रखी जाय।' बड़ी श्रद्धा और तत्परतासे भगवान्‌के आदेशका पालन किया गया। संत कनकदास किसी स्थानविशेषमें अधिक देरतक नहीं ठहरते थे; वे तो तीर्थयात्रीमात्र थे। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूम-घूमकर भगवद्दर्शनका आनन्द प्राप्त किया करते थे। वे तिरुपति-मन्दिरमें भगवान्‌का दर्शन करने एक अपरिचित साधारण व्यक्तिकी तरह आये और चले गये। उनके आने-जानेपर किसीने भी ध्यान नहीं दिया। वे यात्राके श्रमसे बहुत थके थे; शरीरमें बड़ी शिथिलता थी। मन्दिरके ही एक पुजारीने उन्हें भगवान्‌का प्रसाद दिया। प्रसाद ग्रहण करनेके बाद वे सड़कके बगलमें एक स्थानपर सो गये। प्रातःकाल मन्दिरका पट खुलनेपर देखा गया कि भगवान्‌के श्रीविग्रहपर शोभित रत्नजटित अलंकार-परिधान नहीं है। लोग इस असाधारण घटनासे आश्चर्यमें पड़ गये। परिधानके चोरकी खोज होने लगी। सड़कपर कनकदास निद्राभिभूत पड़े थे। उनका शरीर प्रभुके अलंकार-परिधानसे शोभित था। उन्हें सोतेसे जगाया गया। वे महन्तके सामने उपस्थित किये गये। उन्हें डाकू समझा गया। उनकी पीठपर कोड़ेकी मार पड़ने लगी। उन्होंने आहतक नहीं की, नयनोंमें एक अश्रुकण भी न आ सका। प्रभुके विधानके अनुसार जो कुछ भी हो रहा था, उससे उन्होंने मनमें तनिक भी विरोधका भाव नहीं आने दिया। उन्होंने मार सह ली। लीलामयकी लीलाका पता साधारण जीवको नहीं लगने पाता। यद्यपि तिरुपतिके भगवान् भक्तकी यशोवृद्धिकी लीला कर रहे थे, तथापि भक्तकी पीठपर कोड़े बरसते देखकर उनकी लीलामें क्षोभ उत्पन्न हो उठा। कोड़ेकी प्रत्येक मारका चिह्न भगवद्विग्रहपर अङ्कित देखा गया। प्रभुने कोड़ेकी मार अपनी पीठपर झेल ली। महन्तको अपनी उद्दण्ड भूलपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने भक्त और भगवान्‌से क्षमा-याचना की। कितनी कृपा थी तिरुपतिके आराध्य प्रभुकी कनकदासपर!

हरिदास अथवा दासकूट-संतकी परम्परामें 'कनकन-किन्दी' अथवा 'कनकदासकी खिड़की'की असाधारण घटना चिरस्मरणीय है। वे गुरुकी आज्ञासे अपनी साम्प्रदायिक

निष्ठाकी संतुष्टिके लिये उडुपि गये । उडुपि मध्व-सम्प्रदायका गढ़ स्वीकार किया गया है । उडुपिके मन्दिरमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिष्ठित प्रतिमाका दर्शन तत्कालीन दृष्टिकोणके अन्तर्गत सामनेके प्रमुख द्वारमें प्रवेश कर प्राप्त करना महार होनेके नाते उनके लिये निषिद्ध था। संत और भगवद्भक्तका सबसे बड़ा सद्गुण यह होता है कि वे राग-द्वेषसे नितान्त परे होकर अपने सत्स्वरूपके परिशीलन और भगवान्के भजनमें तत्पर रहते हैं। संत कनकदास तो अपने परमाराध्यका दर्शन करना चाहते थे। वे मन्दिरके पीछे जाकर बड़ी तन्मयतासे भगवान्का भजन करने लगे। वे प्रभु-दर्शनके लिये विकल हो उठे। इधर भगवान् भी भक्तकी कामना-पूर्तिके लिये ही नहीं, (संत कनकदासके) दर्शनके लिये भी आकुल हो उठे । दोनों ओरसे एक-दूसरेको देखनेकी व्याकुलता असह्य हो उठी । संसारका कृत्रिम आवरण शिथिल पड़ गया । पीछे मन्दिरकी दीवारमें दरार फूट पड़ी। उस दरारसे प्रभुका कनकदासने प्रत्यक्ष दर्शन किया; इतना ही नहीं, भक्तको कृतार्थ करनेके लिये पूर्व-अभिमुख प्रभु श्रीकृष्णके श्रीविग्रहका मुख पश्चिमकी ओर हो गया। मन्दिरके प्रमुख यति तथा असंख्य भक्तों और संत-महात्माओंने महात्मा कनकदासका दर्शन कर महान् आनन्द प्राप्त किया । उपर्युक्त दरार—सुराख श्रीभगवदनुग्रहके रूपमें अब भी सुरक्षित है । उडुपिमें पधारनेवाले सैकड़ों तीर्थयात्री इस 'कनकन-किन्दी'के दर्शनसे अपना जीवन धन्य करते रहते हैं।

मध्व-मतमें परमात्माको ही एकमात्र प्रभु स्वीकार किया गया है । वे सम्पूर्ण प्रभु स्वाधीन अथवा स्वामी हैं, जीवात्मा उनका सहज स्वाभाविक दास है। संत कनकदासने उपर्युक्त मध्व विचारदर्शनके अनुरूप अपने जीवनको भगवद्भक्तिसे सम्पन्न कर असंख्य लोगोंको सर्वव्यापक परमात्माके भजनमें लगाया। उनका परमात्म-सम्बन्धी दृष्टि-कोण बड़ा व्यापक था। उनकी साधनाके क्षेत्रमें परमात्मा सगुण-निर्गुण तत्त्वके अभिन्न स्वरूप थे । मध्व-मत संत कनकदास और पुरन्दरदासके लिये जलके समान था; वे दोनों उसके मीन थे। संत कनकदासकी वाणीमें मध्व-मतके सिद्धान्तके प्रति प्रगाढ़ निष्ठाका भावाङ्कन मिलता है। कनकदासकी वाणीके मर्मके अनुशीलनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'सम्पूर्ण विश्वमें ईश्वरत्व और दासत्व—ये ही दो भाव प्रमुख हैं। भगवान् जगदीश्वर हैं और उनसे शेष—सब कुछ उनका दास है। जो प्राणी भगवान्को अपना प्रभु और अपने-आपको उनका दास मानकर उनकी महिमाका गान करते हुए उनके आज्ञानुसार जीवनका निर्वाह करता है, वही श्रेष्ठ है तथा वही कृतार्थ भक्त है और उसका ही जीवन सार्थक है।' संत कनकदास निश्शेष भगवच्छरणागतिमें अटल आस्था रखते थे और भगवान्की अहैतुकी कृपाको अपना अखण्ड प्राणधन स्वीकार करते थे। इस तरह उनका सम्पूर्ण जीवन निर्भय, सुख-शान्तिमय तथा निश्चिन्त था। एक स्थलपर भगवत्कृपा-प्रकाशके विवेचनमें उनकी वाणी कहती है—

'मेरे मन ! शान्तिमें स्थित रहो, अशान्त मत बनो । इस बातमें रंचमात्र भी संदेह मत करो कि परमात्मा समभावसे सबकी सँभाल करते रहते हैं । देखो ! पहाड़की चोटीपर अङ्कुरित होनेवाले पादपोंको किसने पानी देकर सींचा और किस मालीने पानीको संचित करनेके लिये उनकी क्यारियाँ बनायीं ? परमात्माने ही हमारा सृजन किया है तथा वे ही हमारे भरण-पोषणके उत्तरदायित्वका निर्वाह करते हैं। इस तथ्यमें संदेह मत करो; निस्संदेह वे ही हमारी देख-भाल करेंगे । ठीक समयपर जंगलके अनेक जानवरों तथा आकाश और हवामें उड़नेवाले असंख्य पक्षियोंको भोजन कौन देता है ? जो अपने बच्चोंका पालन करती है, उस माँकी तरह भगवान् हमारे पोषणका उत्तर-दायित्व वहन करते हैं। तनिक भी संदेह मत करो; पूर्ण विश्वास रखो, परमात्मा हमारी रक्षा करेंगे । छोटे-छोटे पाषाण-खण्डोंके भीतर स्थित कुर्र-कुर्र करनेवाले मेढकको भोजन कौन प्रदान करता है ? श्रीकेशव हमारी आवश्यकताएँ जानते हैं और हमारी देख-भाल तथा रक्षा करते हैं, इस बातमें तनिक भी अविश्वास मत करो।'

संत कनकदासकी आध्यात्मिक शिक्षा यह थी कि जीवात्माको प्रभुके चरणदेशमें दासानुदासकी तरह पवित्र अन्तःकरणसे आत्मसमर्पण कर देना चाहिये । उनकी शिक्षाका महत्तम सारतत्त्व यह है कि कर्ता एकमात्र परमात्मा हैं। 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इसका सदा स्मरण रखना चाहिये। उनका विचार था कि सब कुछ परमात्मामें समाविष्ट है इसलिये मनुष्यके प्रति की गयी (निष्काम) सेवा परमात्मा-की ही निष्काम भक्ति अथवा सेवा है । संत कनकदासने कहा—'आत्मशान्ति—नित्यसुख ही साधनामय जीवनमें सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।' उन्होंने आचारकी पवित्रतापर बड़ा बल दिया।

उन्होंने जीवनके अन्तिम दिनोंका अधिकांश बेलूरमें बिताया। बेलूरके प्रसिद्ध संत वैकुण्ठदासकी उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे सेवा की। संत कनकदासके दास्यभाव और विनम्रतापूर्ण जीवनसे महात्मा वैकुण्ठदास अमित प्रभावित थे। बेलूर-निवासकालमें उनकी परमात्माके प्रति बड़ी विनयपूर्ण विज्ञप्ति है—'हे देव! यह शरीर आपका ही है, यह अस्तित्व आपका ही है। सुख-दुःख आपके ही प्रसाद हैं। जिन परिस्थितियोंमें वेद-शास्त्रका श्रवण किया जाता है, वे आपकी ही देन हैं। चन्दन और कस्तूरीकी सुगन्धमें आप ही समाविष्ट हैं। स्वादिष्ट भोजनके रसास्वादकी उपलब्धि करानेवाली जिह्वामें आपकी ही शक्ति है। मायाजालमें आबद्ध करनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आपकी ही विभूति हैं। हे आदिकेशव! बिना आपके मनुष्यकी कोई सत्ता नहीं है।'

संत कनकदासने लगभग ९८ सालतक इस धराधामपर रहकर भगवद्भक्तिका प्रचार किया। कहा जाता है कि वे १६०६ ई० तक अपनी जीवनलीलामें स्थित थे। उन्होंने प्रचुर भक्तिपूर्ण पदों तथा संकीर्तनोंकी रचना की। उनकी अनुपम कृति—'हरिभक्तिसार'में उनके भगवद्भक्तिपूर्ण सिद्धान्तों, विचार-धाराओं और शरणागति-सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टिकोण-का परिचय मिलता है। उन्होंने मोहनतरंगिणी (कृष्ण-चरित), रामध्यानचरित्र, नृसिंहस्तव आदि रचनाओंके द्वारा महती कीर्ति और आत्मतृप्तिके पुण्यका अर्जन किया।

मध्यकालके प्रायः सभी संतों तथा महात्माओंने लोगोंको सार्वभौम भागवत-दृष्टि अपनानेकी ही सीख दी। उनके वचनोंसे पता चलता है कि भगवान्‌का भजन करनेवाले संत जाति आदिके संकुचित सीमा-बन्धनसे ऊपर उठकर एकमात्र प्रभुकी भक्तिको ही जीवनकी परम निधि स्वीकार करते हैं। इस तरहके दृष्टिकोणसे जातिगत मान्यताओंका खण्डन नहीं, उनसे ऊपर उठकर सर्वव्यापक हरिकी भक्तिकी श्रेयस्करताका मण्डन उपलब्ध होता है। संतकी वाणी मधुमयी अमृतसंजीवनी होती है। वह लोक-जीवनमें सत्कर्मका सृजन करती है। संत कनकदासकी एक स्थलपर बड़ी पवित्र तथा मार्मिक उक्ति है—'उच्च या साधारण कुलमें जन्म ग्रहण करनामात्र उच्चता अथवा लघुताका मापदण्ड नहीं है। कमल पङ्कमें उत्पन्न होता है, पर इसे हम पूजामें भगवान्‌को समर्पित करते हैं। दूध गायके मांसल स्तनमें रहता है, पर बड़े-बड़े उच्च कुलोंमें जन्म लेनेवाले सम्मानित व्यक्ति उसको पीते हैं। कस्तूरी मृगकी नाभिका मैल है, पर उच्च कुलाभिमानी इसका अङ्गरागके रूपमें अपने शरीरपर लेप करते हैं। मुझे समझाइये श्रीनारायण और शंकरकी क्या जाति है; आत्मा, जीवन, प्रेम और पाँचों इन्द्रियोंकी क्या जाति है? भगवान् आदिकेशवसे चिर आत्म-सम्बन्ध स्थिर हो जानेपर जाति भगवत्सम्बन्धमें प्रतिष्ठित हो जाती है।'

संत कनकदासने अपने कीर्तनीय पदों और भक्तिपूर्ण उद्गारोंसे कर्णाटक प्रदेशके लोकजीवनको ही नहीं, पवित्र भारतभूमिके सर्वसाधारणको भगवान् केशवकी भक्तिसे सर्वथा सम्पन्न कर दिया। दासकूट-संत-परम्परामें उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। हरिदासोंके इतिहासमें संत कनकदासका नाम स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित है। वे भागवत धर्म—भक्तिमार्गके पोषक थे।

पर-दोष-दर्शन पतनकारक है

साधकको चाहिये कि वह पर-दोष-दर्शनको सर्वथा त्याग दे; क्योंकि दोष करनेकी अपेक्षा पर-दोषोंका चिन्तन अधिक पतन करनेवाला है। दोषको क्रियारूपमें लानेमें तो बहुत कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, परंतु दोषके चिन्तनमें किसी प्रकारकी कठिनाई प्रतीत नहीं होती। इसी कारण दोषोंके चिन्तनमें रस लेनेकी आदत स्वाभाविक ही हो जाती है। इस व्यसनका त्याग करनेके लिये साधकको अपने दोष देखनेकी आदत डालनी चाहिये।

—स्वामी विवेकानन्द

* * * *

तेरे भावैं जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायन' तू बैठकै, अपनो भवन बुहार॥

चित्रकूटके घाटपर

(लेखक—डॉ० श्रीशिवबहादुरसिंहजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मन्दाकिनीकी उज्ज्वल धारा, निर्मल अनन्त जलराशि, निरन्तर उठती नवीन लहरें और सुन्दर घाट—एक मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं। समीप ही एक छोटा-सा ग्राम है, जिसमें अरण्यवासी परिश्रमसे अर्जित कन्द-मूल-फलादिके द्वारा जीवन-यापन करते हैं। अरण्यमें मोर, पिक, चातक, चक्रवाक तथा अन्य नाना प्रकारके पक्षी विहार करते हैं। कहीं-कहीं ऋषि-मण्डली वेद-मन्त्रोंके उच्च घोषके साथ यज्ञ-सम्बन्धी आहुति देनेमें संलग्न है, कहीं भीलोंके बालक नाना प्रकारकी क्रीडाओंमें तल्लीन हैं, कहीं नर-नारी गृहस्थीके विभिन्न जंजालोंमें दिन-रात व्यस्त हैं, कहीं पुरोहितगण यजमानके हित-चिन्तनमें तत्पर हैं, कहीं सरोवरोंमें कमल विकसित हो रहे हैं और मछलियाँ कल्लोल कर रही हैं।

* * *

एक दिवसकी बात है, अरण्यवासियोंको पता चला कि 'अयोध्याके ज्येष्ठ राजकुमार पत्नी तथा अनुजके साथ चित्रकूट-वासके लिये आ रहे हैं। किसी कारणवश उनके पिताने उन्हें अरण्य-निवासके लिये आदेश दिया है।' यह समाचार मिलनेपर वनवासियोंके यहाँ उनके शुभागमनकी प्रतीक्षा बड़ी उत्कण्ठाके साथ आरम्भ हुई। प्रातःकाल ही प्रायः समस्त नर-नारी मन्दाकिनीमें स्नान करके आतुर मनसे उन राजकुमारोंकी बाट जोहने लगे। बालकगण उनके विभिन्न प्रकारकी क्रीडाओंमें कुशल रूपोंकी कल्पना करने लगे। ऋषिगण अत्यन्त आनन्दित हो उन विभु राजकुमारोंका स्तवन एवं ध्यान करने लगे। मध्यदिवसकी वेलामें उछलते-कूदते बालकोंने उनके समीपतक आ जानेकी खबर गाँववालोंको दी। ग्रामीण जनता आगे बढ़कर उनकी अगुआनीके लिये खड़ी हो गयी और तभी नयनाभिराम राम सीता तथा लक्ष्मणके साथ उत्तर दिशासे आते दिखायी दिये। लोगोंमें हर्षका पारावार उमड़ पड़ा। सबके नेत्र उसी ओर स्थिर हो गये; सब एकचित्त होकर उस रूप-निकेतनकी ओर ही देखने लगे। अप्रतिम सौन्दर्य, अद्भुत कान्ति, सुन्दर मुख, मनोरम भौंहें, उत्फुल्ल कमलको विलज्जित करनेवाले लोचन, शुक-तुल्य नासिका, विशाल स्कन्ध, जटा-मुकुट-मण्डित मस्तक, सिंहकी-सी कटि, कोमल चरणारविन्द, धनुष-बाणसे सनाथ हाथ; नखसे-शिखातक अनुपम शोभाजनित आनन्दके अतिरेकसे सभी चित्रलिखित-से हो गये। उस सौन्दर्य-सुधामें अवगाहनसे उल्लसित हुए लोगोंको अपनी सुध न रही। इतनेमें ही वे तीनों समीप आ गये। लोगोंकी संज्ञा लौटी। एक ग्राम-वधूटीने उत्साहित हो सीतासे पूछ लिया—'सुमुखि! ये राजकुमार तुम्हारे कौन हैं?' गुरुजनोंके समीप लज्जासे अवगुण्ठित होनेपर भी उत्तर न देनेसे इन सबकी अवमानना होगी—ऐसा सोचकर सीताजीने मधुर वाणीमें बताया—'ये गोरे रंगके सिंह-केसरी मेरे देवर हैं' और पुनः आँचलको सँभालती हुई लज्जाशीला जनककिशोरीने रामकी ओर तिरछी चितवनसे देखकर सूचित किया कि 'ये साँवले-सलोने पुरुषसिंह मेरे पति हैं।' ग्राम-वधूटियाँ परिचय पाकर दुर्लभ दर्शनसे निहाल हो गयीं और वे बटोही आगे बढ़ते हुए कामदगिरिके समीप जा पहुँचे।

* * *

कामदगिरि एक उत्तुङ्ग पर्वत है, जिसपर नाना प्रकारके वृक्ष लहलहा रहे हैं। मौलसिरी, जम्बू, रसाल, तमाल तथा वटके अतिरिक्त अन्य जातिके भी असंख्य वृक्ष कामदगिरिकी शोभा बढ़ाते हैं। ग्रामवासियोंने उस रमणीय पर्वतके एक सुन्दर स्थलपर दो पर्णकुटीर बनाये—एक लघु, दूसरा विशाल, जिनके मध्यभागमें एक विशाल वट-वृक्ष अवस्थित है। उसके चारों ओर अधिष्ठान निर्मित किये गये। श्रीराम-लक्ष्मण तथा सीता वहीं वास करने लगे। स्नान-ध्यानसे निवृत्त होकर वे सत्सङ्गमें भाग लेने लगे; ऋषि-मण्डली ज्ञानार्जन-हेतु प्रातः तथा सायंकाल वहाँ बैठने लगी। योग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, ब्रह्म, जीव तथा माया आदि विविध विषयोंपर चर्चा होने लगी। सामान्य-जन उनके दर्शन-हेतु एकत्रित होते थे, बालकगण उनके साथ मनोरञ्जनके लिये आ जाते थे तथा वृद्धजन ज्ञान-लाभके उद्देश्यसे वहाँ पहुँचते थे। नारियाँ सीताजीके साथ वार्तालाप-विनोदका सुख लूटनेके लिये इकट्ठी होती थीं। उनका दिन व्यस्तताके साथ बीतता था और रात्रि योग-निद्रामें। ऐसी दिनचर्या थी श्रीराम आदिकी।

* * *

पत्र, पुष्प, फल, फूल तथा कन्द-मूल यही उनके लिये नित्यका भोजन था। बालकगण सवेरे ही उठकर सभी वस्तुएँ पहुँचाते थे। पूजाके लिये सुन्दर पत्र-पुष्प, पीनेके लिये मन्दाकिनीका स्वच्छ जल और भोजनके लिये सुन्दर फल प्रस्तुत करते थे और इनके बदलेमें उन्हें प्रभुका प्यार-दुलार प्राप्त होता था।

* * *

एक दिन राम, लक्ष्मण तथा सीता वनमें विचरण कर रहे थे। मार्गमें एक स्थानपर अस्थियोंका ढेर दृष्टिगोचर हुआ। ऋषियोंसे पूछनेपर ज्ञात हुआ कि ये वनवासी मुनियोंकी अस्थियाँ हैं, जिन्हें राक्षसोंने मारकर अपना आहार बना लिया। प्रभुकी आँखें भर आयीं; उन्होंने भुजा उठाकर प्रण किया—'मैं भूतलको इन राक्षसोंसे शून्य कर दूँगा।'

* * *

कुछ दिन और बीते; मध्यदिवसमें पर्णकुटीपर सत्सङ्ग होता था; ध्यान-धारणा आदिकी बातें चल रही थीं, तबतक कुछ बालक दौड़े आये। उन्होंने सूचना दी कि 'भरतजी विशाल सेना साथ लिये इधर ही आ रहे हैं।' प्रभुको सोच हो आया। वे थोड़े समयके लिये विचारमग्न हो गये। उन्हें चिन्तित देख लक्ष्मणजीका क्रोध उभर आया। उन्हें भरतकी नीयतपर संदेह हो गया। वे रौद्र-भावसे कहने लगे—'आज भरतको उनके पिछले कर्मोंका फल भुगतना पड़ेगा; उनकी कूटनीतिका दण्ड उन्हें मिलेगा।' वे और भी बहुत कुछ कहते, परंतु रामके मना करनेपर मौन हो गये और पुनः सत्सङ्गमें ज्ञान-चर्चा होने लगी।

* * *

श्रीराम किसी ऋषिका प्रवचन सुन रहे थे। लक्ष्मण उनकी सेवामें संलग्न थे। इधर भरतजी पर्णकुटीपर पहुँचकर दण्ड-प्रणाम करने लगे। लक्ष्मणने सेवाका भार छोड़कर धीरेसे बताया कि 'भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।' श्रीराम भावोद्रेकसे पूर्ण हो शीघ्रतासे उठे। उनका उत्तरीय पट कहीं छूट गया, धनुष कहीं गिर गया, निषङ्ग तथा बाण कहीं रह गये। उन्होंने भावविह्वल हो भरतको उठाकर हृदयसे लगा लिया, आँखोंसे अश्रु-धारा बह चली। ऋषिमण्डली मुग्धभावसे यह मिलन-दृश्य देखती रही। भरतको अपने साथ लाकर रामने आसनपर बिठाया। भरत भाव-विभोर थे; माताके कृत्यसे संकुचित होनेपर भी प्रभुकी उदारतासे निर्भीक थे। फिर केवटके यह सूचित करनेपर कि 'माताएँ भी आयी हैं।' शत्रुघ्नको सीताके पास छोड़कर श्रीराम शीघ्रतासे माताओंके पास पहुँचे। कैकेयीसे विशेष स्नेहके साथ मिले और प्रजाको भी उन्होंने स्नेह एवं आदर दिया। वहीं उन्हें पिता दशरथके परलोकवासी होनेका समाचार मिला। इससे राम विशेष दुःखी हुए और उन्होंने शास्त्र तथा लोकाचारके अनुसार श्राद्धकर्म किया।

चित्रकूटमें कई दिनोंतक वह राजमण्डली विचार-विमर्श करती रही। विचारका विषय था—श्रीराम वनमें न रहकर अयोध्या चलें। भरतको संतोष नहीं हो रहा था। वे चाहते थे कि श्रीराम अयोध्या लौटकर शासन सँभालें; परंतु पिताके वचनका पालन करनेवाले दृढ़-प्रतिज्ञ राम चौदह वर्षका समय वनवासमें ही बिताना चाहते थे। अन्तमें भारी हृदयसे भरत इस बातपर राजी हुए कि श्रीराम पिताके सत्यकी रक्षाके लिये नियत समयतक वनमें रहें। वे अपने मनके प्रबोधके लिये श्रीरामपादुका लेकर अयोध्या वापस आये, उसे सिंहासनपर रखा और स्वयं वीतराग योगीकी भाँति विरक्त रहकर राज्य-भार सँभाला।

एक बार जब श्रीराम चित्रकूटसे आगे जा रहे थे, वे सीताकी इच्छाके अनुसार उनको साथ ले अत्रि-अनसूयाके आश्रममें गये। सीताने अत्यधिक श्रद्धा-भक्तिसे अनसूयाके चरणोंका स्पर्श किया। अनसूयाने उन्हें पति-भक्तिके मर्म समझाये, अत्रिने रामको ज्ञानकी बातें सुनायीं। बहुत देरतक उनमें ज्ञानालाप होता रहा।

कहा जाता है कि रामने कामदगिरिपर बारह वर्ष बिताये। इस कालमें वे कभी-कभी स्फटिकशिलापर बैठते थे, जहाँ उनके चरणचिह्न अङ्कित हैं, कभी किसी प्रस्तरखण्डपर विश्राम किया करते थे, जहाँ शयन-चिह्न सुशोभित हैं। चित्रकूटकी प्रत्येक वनस्थली, झुरमुटोंके समूह, वृक्षोंकी पङ्क्तियाँ, लताओंके गुल्म, पुष्पोंके पराग, पौधोंके किसलय, पर्वतोंकी शिलाएँ, मन्दाकिनी तथा पयस्विनीकी निर्मल धाराएँ, सरोवरोंकी जलराशि, मलय वायु तथा वहाँकी पृथ्वीका प्रत्येक रजःकण प्रभुके चरण-स्पर्शसे पवित्र हैं। चित्रकूटका कौन-सा स्थल है, जहाँ श्रीराघवेन्द्रके चरण न पड़े हों; कौन-सा कोना है, जहाँ प्रभुने पदार्पण न किया हो। कौन-सा स्थान है, जहाँ रघुनायके चारु चरणोंका संचरण न हुआ हो। वस्तुतः वहाँका प्रत्येक स्थल आज भी पवित्रता, निर्मलता तथा सौन्दर्यसे परिपूर्ण है; वहाँ जानेसे आज भी असीम शान्ति प्राप्त होती है।

विद्ययामृतमश्नुते

(लेखक—आचार्य श्रीविष्णुदेवजी उपाध्याय)

यह संसार दुःखरूप है;[1] सब सुविधाओंसे सम्पन्न व्यक्तिको भी संतुष्ट नहीं कहा जा सकता। ऐसा अनुभव होता है कि मनुष्यको कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी। वह अशान्तिके कसैले धुएँमें घुटकर ही मर जायगा।

मनुष्यने इस अशान्तिसे मुक्ति पानेकी चेष्टा भी कम नहीं की है; यथाशक्ति उसने यहाँ-वहाँ भाग-दौड़ की है। लेकिन अशान्तिसे मुक्ति पानेके चक्करमें वह एकके बाद एक उन ओझों-सयानोंके जालमें फँसता रहा है; जो रोगको दबानेकी अपेक्षा उसे और अधिक उभाड़ते रहे हैं। 'मर्ज बढ़ता गया' ज्यों-ज्यों दवा की'—मनुष्यने जितने ही ओझों-सयानोंके पास चक्कर काटे; शान्ति उससे उतनी ही दूर खिसकती गयी।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीमें न्यूटन, केपलर, कॉपरनिकस, बेकन, और गैलिलियो प्रभृति वैज्ञानिकोंके नेतृत्वमें प्रारम्भ वैज्ञानिक-आन्दोलनके द्वारा, संसारको इन ओझों-सयानोंसे कुछ राहत मिली तो मनुष्य नीम हकीमके सुदृढ़ जालमें फँस गया; क्योंकि वैज्ञानिकोंके कुछ आश्चर्यजनक करतबोंकी चकाचौंधसे उनकी ओर आकृष्ट होकर मनुष्यने उनसे जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी थीं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वोपरि आशा विज्ञानके द्वारा 'सर्वव्यापी अशान्तिकी पूर्णरूपेण परिसमाप्ति' थी।

एक बार ऐसा लगा अवश्य कि संसार अब स्थायी सुख-शान्तिसे पूर्ण एक रहनेके योग्य घर बन जायगा और विश्व-ब्रह्माण्ड अपने सम्पूर्ण रहस्य मनुष्यके समक्ष प्रकट कर देगा। लेकिन मनुष्यकी आँखें तब खुलीं, जब विज्ञान राजनीतिज्ञोंके हाथोंमें खेलनेका खिलौना बनकर विपत्तियोंके पहाड़के रूपमें उसके सिरपर टूट पड़ा और संसार कम-से-कम समयमें अधिक-से-अधिक मनुष्योंको मृत्युकी घोर निद्रामें निमग्न करनेवाले शस्त्रास्त्रोंके परीक्षणके लिये युद्धस्थलके रूपमें परिणत हो गया।

स्थिति आज भी कुछ भिन्न नहीं है। हर एक राष्ट्र-राज्य युद्ध-शिविर बन चुका है और राष्ट्र-राज्योंकी बागडोर सँभालनेवाले राजनीतिज्ञ अपने-अपने शिविरोंमें विज्ञानकी सहायतासे आणविक शस्त्रास्त्रोंका ढेर अधिक ऊँचा करनेकी तैयारीमें दिन-रात एक करते हुए अशान्तिको ही बढ़ावा दे रहे हैं।

अतः सुनिश्चित रूपसे ओझों-सयानों और नीम हकीमोंके चंगुलमें फँसकर शान्ति कभी नहीं मिल सकती। मनुष्यको उनके सुदृढ़ घेरेको तोड़कर बाहर निकलना ही होगा। इस चक्रव्यूहको तोड़ते ही नब्ज पकड़कर रोग पहचान लेनेवाली और अचूक औषध देनेवाली भूमण्डलपर 'परा' ज्ञानकी अध्यापिका भारतीय मनीषियोंकी प्रतिभा उसको सामने खड़ी मिलेगी। इस भारतीय मनीषियोंकी प्रतिभाके अनुसार—'अशान्ति मनुष्यको तब ग्रसती है, जब उसका अपने मूल उद्गम भूत, वर्तमान और भविष्य रूप तथा इन अवस्थाओंसे भी अतीत ओंकारपदबोध्य परब्रह्म परमात्मासे सम्पर्क टूट जाता है'। इसीलिये केनोपनिषद्के शान्तिपाठमें ऋषि प्रार्थना करते हैं—'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु॥'—मैं परब्रह्म परमात्माका निराकरण न करूँ, परब्रह्म परमात्मा मेरा निराकरण न करे; मेरा उसके साथ अटूट सम्बन्ध हो, सम्बन्ध-विच्छेद कभी न हो।'

लेकिन परब्रह्म परमात्मासे सम्पर्क बनाये रखनेके लिये आस्तिक बन इस दृश्यमान, अनुभवगम्य और व्यक्त जगत्से परे विद्यमान अतीन्द्रिय तत्त्वके ज्ञानकी प्राप्ति अनिवार्य है,[2] जब कि इन्द्रियोंके स्वभावके कारण हम नास्तिक बन दृश्यमान, अनुभवगम्य और व्यक्त जगत्को ही सब कुछ मान बैठकर अज्ञानको अपने मनोमस्तिष्कपर सरलतासे अधिकार कर लेने देते हैं। परिणाम यह निकलता है कि परमसत्तासे सम्पर्क बनाये रखनेकी एकमात्र माध्यम, उसकी ही अंशरूप, सब प्राणियोंकी हृदयरूपी गुहामें स्थित अमर ज्योति जीवात्मातक मनुष्यकी पहुँचके सब द्वार बंद हो जानेसे

१. तुलनाके लिये रामदासजीके शब्द तत्काल मुँहसे निकल पड़ते हैं 'मूर्खांमाजी परम मूर्ख, जो संसारीं मानी सुख'—मूर्खोंमें परम मूर्ख वह है; जो संसारको सुखमय समझता है।

२. तुलनीयः 'ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्'—बस एक ज्ञान ही सत्य है और सब मिथ्या है।—विष्णुपुराण २। १२। ४५

मूलोच्छेदक प्राणियोंमें परस्पर शत्रुभाव बढ़ जाता है। हर एक अपनेको ही सुखी देखना चाहता है, दूसरोंको नहीं। भ्रष्टाचारपूर्ण आपाधापीकी मनोवृत्ति सबमें आसन जमाकर बैठ जाती है। बेईमानीके लिये 'टैकटिक्स' शब्द व्यवहृत होने लगता है। स्थापित कानून और व्यवस्थाके उल्लङ्घन तथा हिंसाके ताण्डवको साहसके प्रदर्शनकी संज्ञा दे दी जाती है। रक्षक भक्षकका रौद्ररूप धर लेते हैं। मनुष्य रहन-सहनका स्तर ऊँचा करनेके चक्करमें विस्फोटक वासनाओं-लालसाओंके चंगुलमें फँस जाता है। दूसरोंको धकेलकर अपना मार्ग बनाना चतुरता समझी जाती है। वातावरण स्थायी अशान्तिका डेरा बन जाता है।

इस प्रकार हम समवेत स्वरसे यह भी मान सकते हैं कि दारुण दुःखोंसे पूर्ण अशान्तिका कारण अन्य कुछ नहीं, अविद्या (अज्ञान) ही है और इस अशान्तिसे मुक्ति हमें विद्या (ज्ञान) से मिलेगी। इसीलिये गीताके शब्दोंमें—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते[३]' (गीता ४। ३८) इस पृथ्वीपर ज्ञानके सदृश पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है"। परंतु 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' ज्ञान अज्ञानसे आवृत है। हम अपनी समझ-बूझ खो बैठे हैं, बात-बातमें हमारी किंकर्तव्यविमूढावस्था इस बातका प्रमाण है कि अन्तरतमकी गहराइयोंसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानके आलोकको हमतक पहुँचानेवाले संचार-साधनोंमें कहीं भारी गड़बड़ है। इस गड़बड़ीको दूर करनेके लिये हमें उन तत्त्वदर्शी महान् विचारकोंकी शरणमें जाना चाहिये; जो अन्तरतमकी गहराइयोंसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित होकर परमसत्यको अनुभव कर चुके हैं। आत्मामें ही रत, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट तथा किसी भी प्राणीपर अपने किसी स्वार्थके लिये निर्भर न रहनेवाले महापुरुष ही विनयपूर्वक आदरभावसे, सेवाद्वारा परिप्रश्न (तर्क-वितर्क, प्रश्नोत्तर)के लिये उपयुक्त अधिकारी हैं।

इन उपयुक्त अधिकारियोंके निर्देशनमें, उनके अभ्युदयनिःश्रेयसप्रद वचनोंको श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा मनोमस्तिष्कमें कूट-कूटकर भरते हुए, सुनिश्चितरूपसे समय आनेपर हम स्वयमेव अपने अंदर इस ज्ञानको अधिगत कर लेंगे। परंतु हमें भूलना नहीं चाहिये कि 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' (गीता ४। ३९) श्रद्धावान्, निरन्तर तत्पर और संयतेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञानको प्राप्त करता है। इनमेंसे एकका भी अभाव हमारी सफलताको संदिग्ध बना सकता है।

अतः हेनरी एडम्स (Henry Adams) का यह विचार झुठलानेके योग्य नहीं है—"After all, man knows mighty little, and may some day learn enough of his own ignorance to fall down and pray." अन्ततोगत्वा, मनुष्य बहुत ही कम जानता है और शायद किसी दिन वह अपने अज्ञानके विषयमें इतना काफी कुछ जान पाये कि वह विनीत हो जाय और प्रार्थना करने लगे। ऐसे इस अज्ञानके कारण जिन घातक परिस्थितियोंसे हम गुजर रहे हैं, उन घातक परिस्थितियोंकी परिसमाप्तिके लिये हमें ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कमर कसकर तैयार हो जाना चाहिये; क्योंकि भगवती गीताका यह वचन श्रुति, स्मृति और इतिहाससे संसिद्ध तथ्य है कि, 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' (गीता ४। ३९) मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करके सत्वर परमशान्ति प्राप्त कर लेता है। जबतक हम ज्ञान प्राप्त नहीं करेंगे, अपने आपको पहचानकर अपने मूल उद्गमसे पुनः सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकेंगे। परिणामस्वरूप सब प्राणियोंमें निरपवादरूपसे एक ही आत्माके विद्यमान होनेके तथ्यकी विशेषता विस्मरणमें निहित मान ली जानेसे अन्ताराष्ट्रिय और अन्तर्देशीय शान्तिके संस्थापनार्थ विहित योजनाएँ सदैव विफल होती रहेंगी और अव्यवस्थित अशान्ति मनुष्यको इसी प्रकार और अधिक कसकर पकड़ती हुई भूमण्डलपर जीवनको अभिशाप सिद्ध करती रहेगी।

---

३. तुलनाके योग्य लोकप्रसिद्ध ईसाई जनश्रुतिको उद्धृत करना अनुचित न होगा—"The fear of Lord is the beginning of wisdom."—ईश्वरका भय प्रज्ञाका आरम्भ है।

संत-साहित्यमें नामकी साधना

(लेखिका—डॉ॰ श्रीरेणुका देवी एम्॰ ए॰ (द्वय), बी॰ एड॰, पी-एच्॰ डी॰)

संत-साहित्यमें नाम-साधना एक ऐसा सेतु है, जिसके माध्यमसे भक्त ब्रह्मके साथ तादात्म्य स्थापित करता है। ब्रह्मका कोई रूप नहीं है। अतः उस अरूपकी साधनाके लिये एक विशिष्ट संयोजक तत्वकी आवश्यकता है, जो उसे रूपान्वित भी कर सके और उसकी अरूपताको भी व्यक्त कर सके। इसी धारणाको दृष्टिमें रखकर भारतीय धर्म-साधनामें नाम-माहात्म्यकी प्रधानता प्रतिपादित की गयी है। वस्तुतः 'नाम' शब्दके आते ही किसी विशिष्ट सत्ताकी रूपमयी अभिव्यक्तिका बोध होता है। जहाँतक सगुण संत-भक्त-कवियोंका प्रश्न है, उनके साथ उक्त कथन अपने अभिधेयार्थमें ही ग्राह्य है। परंतु निर्गुण भक्त कवियोंकी निर्गुणोपासनामें पाठकका मन नाम शब्दसे सहसा विस्मित हो जाता है। इसका कारण यह है कि अरूपका नामकरण कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि नाम सीमाका बोधक है, जब कि ब्रह्म सीमा-विहीन है। इस निखिल सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुमें पाँच तत्त्व हैं—सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप। इनमेंसे प्रथम तीन निर्गुण ब्रह्मके गुणधर्म हैं और अन्तिम दो तत्त्व—नाम और रूप सगुण ब्रह्मके द्योतक हैं।

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

(मानस, बालकाण्ड)

तुलसीकी उपर्युक्त चौपाईमें 'ईस' शब्द विचारणीय है। यहाँ नाम और रूप दोनों ईश्वरकी ही उपाधि हैं। अतः नाम और रूप दोनों ही तत्त्व सगुण ब्रह्मकी उपाधियाँ हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रह्म असीम है, पर मूलतः ससीम और असीममें कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही मूल सत्ताके विविध रूप हैं। सीमाका असीममें पर्यवसान, बूँदका समुद्रमें विलयन और ब्रह्मका ईश्वरके रूपमें प्रतिफलित होना एक ही तात्त्विक बोधको व्यक्त करते हैं। अब नाम और रूपके सापेक्षिक महत्त्वपर विचार करना आवश्यक है।

प्रश्न है—नाम और रूप दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है ? तुलसी तो 'को बड़ छोट कहत अपराधू' कहकर असमंजसमें डालते हुए भी 'देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥' से संशयका समाधान भी स्पष्ट कर देते हैं। रूप भी नामके ही अधीन है। बात कुछ ऐसी है भी। जब हम किसी व्यक्तिविशेषका नाम लेते हैं तो उस विशेष व्यक्तिका ही बोध होता है, न कि उसके समान रूपवाले अन्य व्यक्तियोंका; यही कारण है कि नाम रूपसे विशिष्ट है। इसीलिये तुलसीने जहाँ नाम और रूपको ही ईश्वरकी संज्ञासे अभिहित किया है, वहीं क्रमकी दृष्टिसे 'नाम'को 'रूप'से पहले स्थान दिया है। नाम रामसे भी अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि 'राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥' इस पंक्तिमें 'एक' और 'कोटि' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं दो शब्दोंका प्रयोग कर तुलसीने 'राम' और 'नाम'के वैभिन्न्यको प्रतिपादित करते हुए नामकी श्रेष्ठता स्थापित की है। जहाँ रामने केवल एक तपस्वीकी पत्नीको मोक्ष दिया, वहीं नामने सहस्र कोटि दुष्टोंके स्वभावका परिष्कार किया। यद्यपि व्यापक रूपसे 'तारक' और 'सुधारक' दोनोंका महत्त्व है, पर महत्त्वकी दृष्टिसे सुधारक अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि उसने हजारोंकी संख्यामें दुष्टोंका सुधार किया है—'कहेउ नामु बड़ ब्रह्म राम तें'से तुलसीका ध्यान दो बातोंपर स्वतः गया। इस पङ्क्तिमें जहाँ वे नामकी महिमा प्रतिपादित करते हैं वहाँ 'ब्रह्म' शब्दका 'राम'के साथ प्रयोगकर यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि 'राम भी उसी विराट्रूप निर्गुण ब्रह्मकी सगुण अभिव्यक्ति है, जिसे निर्गुनियाँ संतोंने अपनी अटपटी बानियोंके माध्यमसे व्यक्त किया है।'

व्यावहारिक दृष्टिसे भी किसी वस्तुका ज्ञान उसके नामके माध्यमसे ही होता है। उदाहरणके लिये हम मानवको ही ले सकते हैं। मूलतः मानव महान् और अमर है; परंतु वह अपने भिन्न-भिन्न गुण और धर्मके कारण नाना रूपोंमें ज्ञात है। वस्तुतः समष्टिगत मानवसमूहके वैयक्तिक बोधके लिये नामका होना आवश्यक है। यदि कोई जुड़वाँ भाई या बहन हैं तो रूपकी एकता होते हुए भी नाम ही दोनोंकी पृथक्ताका बोधक

१. कहनेका अर्थ यह नहीं कि रामने केवल एक (अहल्या)को ही तारा है, पर इस चौपाईविशेषके प्रसङ्गमें यह उचित हो जाता है कि 'एक' शब्दपर विशेष बल दिया जाय। अतः अध्येताको भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि रामने केवल एक ही भक्तको तारा है।

है। नामकी महत्ता इतनी है कि विशिष्ट नामके प्रचारसे ही लोग आकर्षित होने लगते हैं। आशय यह है कि नामके माध्यमसे ही व्यापक परिधिके भीतर एक ज्वलन्त बिन्दुकी परिकल्पना की जाती है। यही कारण है कि रूपकी अपेक्षा नाम अधिक श्रेष्ठ है।

आध्यात्मिक धरातलपर भी इसी प्रकार विराट् ब्रह्मकी उपासनामें उसकी विशिष्टताके ऊपर मनको केन्द्रीभूत करनेके उद्देश्यसे ही निर्गुण और सगुण संतोंने नाम-साधनाको अपनाया है। नामकी विशिष्टता निरूपित करते हुए महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजका कथन है—'राम' श्रीभगवान्‌का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। शास्त्रोंने इसे ही तारक ब्रह्मके नामसे अभिहित किया है। तारक शब्द 'तॄ' धातु+ण्वुल् प्रत्ययके योगसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है संसारके क्लेशादिसे तारनेवाला वह किस लय और गतिसे दुखी व्यक्तिको अपने साथ लेकर भवसागरसे पार उतार देता है, यही तारनेवालेकी विशिष्टता है।

भक्तिके जिस आन्दोलनका सूत्रपात दक्षिणसे हुआ, उसीने उत्तर भारतमें परिस्थितिके अनुरूप सामान्य भक्ति-मार्गका प्रदर्शन किया। इस सामान्य भक्तिका प्रवर्तन महाराष्ट्रके संत नामदेवने किया। वेदों, पुराणों, भक्तिसूत्रोंसे चली आती हुई परम्परागत नाम-साधनाको प्रश्रय मिला। परिणामस्वरूप निर्गुणी एवं सगुण संतोंके साहित्यमें भी नाम-साधनाका महत्त्व अधिक बढ़ गया। भागवतादि भक्ति-ग्रन्थोंमें नवधा भक्तिके विभिन्न प्रकारोंमें स्मरण-भक्ति भी एक अन्यतम रूपमें वर्णित है। सगुण भक्तोंके लिये नाम, रूप, लीला, धामके अनुशीलनका अधिक महत्त्व है।

सगुण संतोंके संदर्भमें तो नामका स्वारस्य स्पष्ट ही है, परंतु निर्गुणियोंकी नाम-साधनाको स्पष्ट करना आवश्यक है। निर्गुण सम्प्रदायके संतोंने ब्रह्मके लिये अनेक शब्दों—जैसे शून्य, निरञ्जन, लौ, सुरति—शब्द-योग इत्यादिका प्रयोग पर्यायरूपमें किया है। ब्रह्म जो अरूप है, उसको 'शून्य'-से अभिहित करके ध्यान केन्द्रित करनेकी जो परिपाटी निर्गुणियोंके यहाँ पायी जाती है, वह सगुणोपासकोंके नामके अनुरूप ही है। स्पष्ट ही है कि अरूप ब्रह्मको इस प्रकारके रहस्यात्मक नामोंसे अभिहित करके साधना करनेका जो विधान निर्गुण-साहित्यमें पाया जाता है, वह नाम-साधनाकी महत्ताका ही प्रतिपादक है।

संत सत्यके सम्यग् द्रष्टा होते हैं। अतः इस दृष्टिसे निर्गुण संत भक्त कवि और सगुण संत भक्त कवि एक ही परिधिमें आ जाते हैं। यही कारण है कि निर्गुण एवं सगुण दोनों ही कवियोंकी साधनामें अन्तर होते हुए भी उनकी साधना-पद्धतिमें नाम-महिमाको प्रमुख स्थान दिया गया है। सर्वप्रथम निर्गुण संतोंके साहित्यमें प्रयुक्त नाम-साधनापर विचार किया जायगा, तत्पश्चात् सगुण-साहित्यका अनुशीलन अपेक्षित है।

निर्गुण संतोंके प्रादुर्भावके पूर्व सामान्य जनताकी जिस धार्मिक दृष्टिका झुकाव बहुदेववादकी ओर हो गया था, वह अब एकनिष्ठ होकर विराट्‌रूप सत्य परम ब्रह्मकी ओर आकर्षित हो गया। यद्यपि सत्य नाम, रूप, गुणविहीन होता है, तथापि यह समस्त ब्रह्माण्डका निर्माण-हेतु है। अतः इसीको वैदिक साहित्यमें 'ऋत'नामसे अभिहित किया गया है। इसी ब्रह्मके नाम-जपका उपदेश जनतामें इन संतोंने प्रचारित किया। निर्गुणी संतोंके समक्ष ईश्वरका न केवल एक नाम-रूपधारी रूप था, वरन् उनके सामने सृष्टि-कर्ता ब्रह्मका विराट् रूप था, जिसके नामजपका उपदेश उन्होंने अपनी साखियों, सबाइयों, पदों एवं बानियोंके माध्यमसे जनतामें सम्प्रेषित किया। यही कारण है कि निर्गुण सम्प्रदायके संतोंने अव्यक्त, अगोचर परब्रह्मका निराकार, निरञ्जन रूपमें वर्णन करके अपनी आस्थाको नाम-साधनापर बल देते हुए संवर्धित किया। निर्गुणधाराके प्रारम्भिक संत कवि नामदेवसे लेकर अन्य सभी संतोंने नाम-माहात्म्यपर विशेष बल दिया है। कबीरदासने तो राम-नामको ही 'ततसार' स्वीकार किया है—

कबीर कहैं मैं कथि गया कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाम ततसार है सब काहू उपदेस॥

(कबीर-ग्रन्थावली, पद—२)

कबीरकी भाँति ही संत चरनदास, सहजोबाई, सुन्दरदास, गरीबदास, मलूकदास आदि संतोंने नामको 'सिरोमनि' परमात्माका 'प्रतीक' 'अमूल्य' तथा 'महौषधि' आदि विशेषणोंद्वारा विभूषित करके नामकी महत्ता स्थापित की है। निर्गुणी संतोंने अपने साहित्यमें 'पारस', 'जहाज' आदि संज्ञाएँ नामके लिये ही प्रयुक्त की हैं, जिनसे 'नाम'के तारक गुणका बोध होता है—

आदि नाम पारस अहै मन है मैलो लोह।
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह॥
(संतबानी-संग्रह—भाग १)

निर्गुण संतोंकी भाँति सगुण संतोंने भी नाम-जपकी महिमा वर्णित की है। वेदान्तके जिस बुद्धिप्रधान ब्रह्मकी भावनात्मक अभिव्यक्ति निर्गुण संत भक्त कवियोंने की उस भावनात्मक ब्रह्मकी रूपात्मक अभिव्यञ्जना ही सगुण संत-भक्त-कवियोंको अभिप्रेत था। अरूप ब्रह्मके जिस विराट् रूपकी भक्ति निर्गुण संतोंने अपनी गलदश्रु भावुकतासे की, उसीकी मदनमोहन अभिव्यक्ति सगुणोंके यहाँ हुई। परिणाम-स्वरूप निर्गुणियोंका अरूप ब्रह्म सगुणियोंका रूपवान् ईश्वर हो गया और वह नाम-विशेषसे सम्बद्ध हो भक्तोंके समान मानव-भूमिपर आ खड़ा हुआ। इस सरूप ईश्वरकी नाम-जप-साधनाका उपदेश देनेमें संत तुलसी अग्रणी हैं। तुलसीका मानस तो नाम-माहात्म्य-वर्णनसे ओत-प्रोत है। कबीरका 'नाम' 'ततसार' था तो तुलसीका राम-नाम 'मणिदीप' होकर भक्तोंकी जिह्वापर शोभायमान होने लगा—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहरेहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
(मानस, बालकाण्ड दोहा २१)

तुलसीने तो यहाँतक चेतावनी दी है कि यदि "भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ" भी रामका नाम निकल आये तो उसे "मंगल दिसि दसहूँ" ही समझना चाहिये।

सगुण-संत-भक्त कवियोंके यहाँ आराध्यका नाम और रूप—दो ही तत्त्व भक्तिके लिये पर्याप्त स्वीकार किये गये हैं। यही कारण है कि तुलसीकी भाँति सूर भी अपने मुरली-मोहनके नामकी 'ओट' (सहारा) लेना नहीं भूलते।

बड़ी है राम नाम की ओट।
(सूर-सागर)

सूरदासकी गोपियाँ सदैव कृष्णका नाम-जप करती दृष्टिगोचर होती हैं। नाम-जपकी सहज अभिव्यक्ति सूरदासने गोपियोंके माध्यमसे 'सूरसागर' में की है। गोपियोंके लिये न तो मालाकी आवश्यकता है और न नाम-जप ही संख्याकी परिधिमें घिरा हुआ है। इसी स्वाभाविकताकी अभिव्यञ्जना तो निर्गुण संत कवियोंकी नाम-जप-साधनामें हुई है। सूरकी गोपियाँ तो बड़े ही सहज ढंगसे चलते-फिरते, दही मथते, गृहकार्य करते सदैव कृष्णका नाम लेती रहती हैं। यही तो उनकी नाम-साधनाका स्वाभाविक स्वरूप है। मीराके काव्यमें भी नाम-जपकी ऐसी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। उनका 'गिरिधर गोपाल' ही सब कुछ है।

उपर्युक्त अनुशीलनके उपरान्त यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि समग्र संत-साहित्य नाम-जप-साधनाकी पीठिका-पर ही आधृत है। भक्तोंके लिये उनके आराध्यका नाम ही संबल है, जो इस भवसागरसे उनका उद्धार कर सकता है। सच्चे हृदयसे लिया गया 'नाम' ही वह प्रेम-साधना है जो कभी निष्फल नहीं जाती। प्रियतमका नाम ही भक्त एवं उदात्त प्रेमीकी प्राण-रक्षाका कारण सिद्ध होता है। यही नामकी महत्ता है। साधक एवं एकनिष्ठ प्रेमीकी महत्ता भी इसीमें है कि उसके आराध्यका नाम उसके श्वास-प्रश्वासके साथ सदैव चलता रहे। इसीको निर्गुणी संतोंने अन्तःसाधनाका नाम दिया है।

'शिव' नामका माहात्म्य

पातकानि विनश्यन्ति यावन्ति शिवनामतः। भुवि तावन्ति पापानि क्रियन्ते न नरैर्मुने॥
शिवनामतरीं प्राप्य संसाराब्धिं तरन्ति ते। संसारमूलपापानि तानि नश्यन्त्यसंशयम्॥
संसारमूलभूतानां पातकानां महामुने। शिवनामकुठारेण विनाशो जायते ध्रुवम्॥
शिवनामामृतं पेयं पापदावानलार्दितैः। पापदावाग्नितप्तानां शान्तिस्तेन विना न हि॥
शिवेति नामपीयूषवर्षधारापरिप्लुताः। संसारदवमध्येऽपि न शोचन्ति कदाचन॥
शिवनाम्नि महद्भक्तिर्जाता येषां महात्मनाम्। तद्विधानां तु सहसा मुक्तिर्भवति सर्वथा॥
(शिवपुराण वि० २३। २७, २९—३३)

भगवान् शिवके नामसे जितने पाप नष्ट होते हैं, उतने पाप मनुष्य इस भूतलपर कर नहीं सकते। जो शिवनामरूपी नौकापर आरूढ़ हो संसाररूपी समुद्रको पार करते हैं, उनके जन्म-मरणरूप संसारके मूलभूत वे सारे पाप निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। महामुने! संसारके मूलभूत पातकरूपी पादपोंका शिवनामरूपी कुठारसे निश्चय ही नाश हो जाता है। जो पापरूपी दावानलसे पीड़ित हैं, उन्हें शिव-नामरूपी अमृतका पान करना चाहिये। पापोंके दावानलसे दग्ध होनेवाले लोगोंको शिव-नामामृतके बिना शान्ति नहीं मिल सकती। जो शिवनामरूपी सुधाकी वृष्टिजनित धारामें गोते लगा रहे हैं, वे संसाररूपी दावानलके बीचमें खड़े होनेपर भी कदापि शोकके भागी नहीं होते। जिन महात्माओंके मनमें शिवनामके प्रति बड़ी भारी भक्ति है, ऐसे लोगोंकी सहसा और सर्वथा मुक्ति होती है।

समस्त प्राणियोंके साथ हमारा व्यवहार कैसा हो ?

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

पुराण-साहित्यका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक श्लोक है, जो हमें जगत्के प्राणियोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इसके लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण निर्देश देता है। उस सूत्रको धर्मका सर्वस्व बतलाया गया है और वास्तवमें वह है भी वैसा ही। अतः प्रत्येक व्यक्ति उस श्लोकको अपने जीवनका आदर्श मानते हुए सदा व्यवहारमें उसे स्थान दे; इससे उसका और दूसरोंका भी कल्याण होगा। वह श्लोक या सूत्र इस प्रकार है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
(विष्णुधर्म० ३। २५३। ४४)

अर्थात् धर्मका सर्वस्व क्या है, ध्यानसे सुनो और केवल सुनकर ही न रह जाओ, उसे जीवनमें धारण करो—अपनाओ; वह धर्म-सर्वस्व अर्थात् सारभूत वाक्य है—'अपनी आत्माको जो व्यवहार अच्छे नहीं लगते हों, उन्हें दूसरोंके प्रति भी न करे।'

तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय तो सब जीव एक समान हैं। सब जीवन चाहते हैं, कोई भी मरना या दुःख भोगना नहीं चाहता। सबमें समानरूपसे ही आत्मानुभूति होनी चाहिये, यह समत्वभाव ही अहिंसाका मूलतत्त्व है। इसलिये जब तुम अपने लिये मरण और दुःख नहीं चाहते, तब दूसरोंके लिये भी इन्हें न चाहो। सब आत्माओंको अपने ही समान—अपने ही बन्धु समझकर सबसे मैत्रीभाव रखो, किसीसे वैर-विरोध न करो। किसीको भी किसी प्रकारका कष्ट न दो। यही सम-भाव और मैत्री-भाव है, यही अहिंसाका मूल है। जीवन-संघर्षमें बहुत बार अन्य प्राणियोंके साथ टकराव हो जाता है, आवेशमें मनुष्य न करनेयोग्य काम कर बैठता है; पर वह अन्तर्निरीक्षण या आत्मालोचन करते हुए अकृत्यों, अकार्योंसे अपनेको पीछे हटा ले; पापोंका परिशोध करते रहनेकी यह बहुत सुन्दर प्रक्रिया है।

स्वरूपतः सब जीवात्मा समान होते हुए भी अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मोंके कारण विभिन्न प्रकारके हो गये हैं। अतः सबके साथ एक-सा व्यवहार कैसे किया जाय, यह एक समस्या है। इसका समाधान करते हुए भारतीय मनीषियोंने चार प्रकारकी सुन्दर भावनाओंका विवेचन हमारे सामने रखा है, जिससे हम विभिन्न आत्माओंसे कैसा व्यवहार रखते हुए अपनेको सँभाले रहें, इसकी महत्त्वपूर्ण सूचना मिल जाती है। महापुरुषोंने गम्भीर चिन्तन करते हुए जगत्के सब प्राणियोंको चार भागोंमें विभक्त कर दिया है—(१) अपने समान योग्यता, रुचि तथा स्थितिवाले, (२) अपनेसे अधिक उन्नत स्थितिवाले, (३) अपनेसे नीचा अर्थात् कमजोर स्थितिवाले और (४) इन तीनों स्थितियोंसे भिन्न अधिक नीची स्थितिवाले।

इन चार विभागोंमें समस्त प्राणियोंका विभाजन करते हुए महापुरुषोंने, किन व्यक्तियोंके साथ कैसा व्यवहार करे, इसपर प्रकाश डाला है और चार प्रकारकी भावनाओंकी व्याख्या की है—(१) मैत्री-भावना, (२) प्रमोद-भावना, (३) करुणा-भावना तथा (४) मध्यस्थ-भावना। मैत्रीका व्यवहार उन प्राणियोंके साथ ही किया जा सकता है, जो अपने समान योग्यता या रुचिवाले हों। जीवन-व्यवहारमें हम सदा यही अनुभव करते हैं कि मित्रता उन्हींके साथ होती एवं निभती है, जो समान स्थितिके हों। बालक बालकोंके साथ और युवक युवकोंके साथ ही मित्रता करते हैं; क्योंकि बहुत-सी बातोंमें उनमें समानता पायी जाती है। उनकी उम्र बराबरकी होनेसे रुचि और योग्यतामें भी बहुत अधिक समानता मिलती है। अतः वे एक-दूसरेसे सहज ही घुल-मिल जाते हैं। जिनकी प्रकृति अपने समान नहीं होती, उनसे प्रथमतः तो मैत्री होती ही नहीं, और यदि वे उसे कर भी लेते हैं तो वह निभती नहीं है। इसलिये मैत्रीका सूत्र है—'समेषु मैत्री'—जगत्में जितने भी प्राणी अपने समान स्थितिवाले हैं, उनके साथ मैत्रीका व्यवहार किया जाय। मित्र जिस तरह एक-दूसरेको प्रेम और सहयोग देते हैं, उसी तरह अपने समान योग्यता, रुचि और स्थितिवाले प्राणियोंसे हम प्रेम और सहयोगका व्यवहार करें; एक-दूसरेको ऊँचा उठानेमें हम सदा तत्पर रहें; एक-दूसरेके दुःख-सुखके

साथी बनें। मैत्री भावनाका यही मङ्गल-संदेश है।

जो प्राणी या व्यक्ति अपनेसे ऊँची स्थितिके हों, अधिक गुणी हों, उनके लिये हम प्रमोद-भावना विकसित करें। हमारे मनमें उन्हें देखकर प्रसन्नता हो, ईर्ष्या नहीं हो। उन्हें नीचे गिरानेकी भावना न होकर अपनेको उनके समान ऊँचे उठानेकी भावना हो। गुणी व्यक्तियोंको देखकर हमारा मन-मयूर नाच उठे, रोम-रोममें प्रफुल्लता हो। हम प्रसन्नतापूर्वक उन्हें नमन करें, उनके गुणोंकी प्रशंसा करें; अपनेको कृतकृत्य मानें कि आज ऐसे गुणी व्यक्तिका दर्शन और समागम हुआ। मैं भी इनके आश्रयसे अपनेमें गुणोंका विकास करूँ, अपनेको इनके समान बनानेका प्रयत्न करूँ। 'मेरी भावना' में बहुत ही सुन्दर पद्य मिलता है, जिसका उच्चारण सात्त्विक भावनाको बहुत बड़ा बल देता है, यथा—

गुणी जनोंको देख हृदयमें मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँतक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे॥

जो प्राणी अपनेसे नीचे स्तरके हैं, उनके प्रति हमारी करुणा-भावना हो। अज्ञान और कर्मजन्य परिस्थितिवश वे जीव अपने स्वरूप और कर्तव्योंको भूलकर कुत्सित पाप-कार्य कर रहे हैं, वे हमारी दयाके पात्र हैं, घृणाके नहीं। हम उन जीवोंको सन्मार्ग दिखाने और ऊँचा उठानेका भरसक प्रयत्न करें। उनकी अधम स्थिति और दुःखोंको देखकर हमारा मन द्रवित हो जाय, करुणासे भर जाय और हम अपनेसे जितना भी सम्भव हो उनको ऊँचा उठानेका पूर्ण प्रयत्न करें। अभावग्रस्त व्यक्तियोंके अभावकी पूर्ति करें; उन्हें अपने समान सुखी और गुणी बनानेमें कमी न रखें। उनकी सेवा करके और सहयोग देकर अपने करुणाभावको हम क्रियात्मक रूप दें।

जिनकी आदतें बहुत बुरी पड़ गयी हैं, जिनका स्वभाव बहुत क्रूर है, जो अधिकाधिक पापोंमें लिप्त रहते हैं, जन-परिभाषामें उन्हें 'दुष्ट' और 'पापिष्ठ' कहा जाता है। ऐसे प्राणियोंसे हमारा मध्यस्थ-भाव रहे। जो समझानेपर भी समझते नहीं, सदुपदेशोंको मानते नहीं, अपने अनुचित कार्योंको छोड़ते नहीं, उनके प्रति हम मध्यस्थ—उदासीन रहें, उनपर आक्रोश न करें, घृणा न करें। हमारे हृदयमें तो उनके प्रति प्रेम ही प्रवाहित होता रहे, हिंसा, क्रोध, वैर-विरोधकी भावना न उठे। हमारा प्रयत्न रहे कि वे सुधर जायँ, अच्छे बन जायँ। यदि वे ऐसा नहीं बनते हैं तो भी हम तो उनके प्रति उदासीन भाव ही रखें। अपने प्रयत्नमें सफल न होनेपर भी हम उनके प्रति दुर्भाव न लायें। जगत् एवं कर्मोंकी विचित्रताका ही चिन्तन करते रहें कि इन जीवोंके कुसंस्कार इतने दृढ़ीभूत हो गये हैं कि अपनेमें परिवर्तन लाना, इन बेचारोंके वशकी बात नहीं रही। इसमें इनका दोष नहीं, इसमें इनके कर्मों तथा बुरे संस्कारोंका ही दोष है। हम इनके प्रति बुरे भाव लाकर अपनेको तो बुरा न बनावें, अपनेको सँभाले रहें।

'मेरी भावना' में बहुत ही सुन्दर कहा गया है—

मैत्री-भाव जगत्में मेरा, सब जीवोंसे मिला रहे।
दीन-दुखी जीवोंपर मेरे उरसे करुणा-स्रोत बहे॥
दुर्जन, क्रूर, कुमार्गरतोंपर क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खूँ मैं उनपर, ऐसी परिणति हो जावे॥

इस तरहकी चार भावनाओंको बौद्धधर्ममें 'ब्रह्म-विहार' की संज्ञा देते हुए बहुत ही महत्त्व दिया गया है। जैनाचार्योंने भी प्राचीन मान्य अन्य बारह भावनाओंके साथ इन चार भावनाओंको भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। साधक और धर्म-आराधक प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन इन भावनाओंको मनमें लावे और इनपर गम्भीर चिन्तन करे तो हम दूसरोंके निमित्तसे जो अशुभ कर्मोंका बाँध बाँधते रहते हैं और अपने-आपको गिराते हैं, उससे अनायास और अवश्य ही बच जायँगे। इतना ही नहीं, प्रमोद-भावनाको सही रूपमें अपनावें तो हम अपने सद्गुणोंका बहुत अधिक विकास कर लेंगे; क्योंकि गुणी बननेका सबसे सरल उपाय यही है कि हम गुणवान् व्यक्तिका आश्रय लें, उन महा-पुरुषोंके चरणोंमें समर्पित हो जायँ और उनके सत्सङ्गका लाभ उठावें। उनके गुणोंकी प्रशंसा करते हुए हम अपनेमें उन गुणोंको प्रकट करनेके लिये प्रबल भावना और पुरुषार्थ जाग्रत् करें; गुणानुरागी बनें, दूसरोंके अवगुणोंकी ओर ध्यान न दें। जिस-किसीमें जो भी अच्छा और ऊँचा गुण है, उसीको अपनाकर हमें गुणवान् बनना है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'यह तो मेरे लिये लज्जाकी बात है'

बात पुरानी है। महात्मा गाँधी अपने कई साथियोंके साथ रेलसे यात्रा कर रहे थे। वर्षाके दिन थे। संयोगसे वे जिस डिब्बेमें बैठे थे, उसकी छत कुछ टूटी हुई थी। वर्षा आरम्भ हुई और छतसे पानी डिब्बेमें टपकने लगा। बापूका सामान तथा कागज सँभालकर एक ओर कर दिये गये। अगला स्टेशन आनेपर बापूके साथियोंमेंसे एक व्यक्ति गार्ड-महोदयके पास पहुँचा और उनको उस डिब्बेकी हालत बतायी। गार्डमहोदय बापूको हर तरहकी सहूलियत देनेके लिये तैयार ही थे। वे तत्काल डिब्बेमें आये और उन्होंने बापूसे प्रार्थना की—'बापू! मैंने एक डिब्बा खाली करनेका आदेश दिया है। आप कृपया उसमें चले जाइयेगा। आपको कष्ट होगा, किंतु लाचारी है।'

गाँधीजीने प्रश्न किया—'लेकिन इस डिब्बेका आप क्या करेंगे?'

'जो डिब्बा मैं आपके लिये खाली करवा रहा हूँ, उसके मुसाफिर इसमें बैठा दिये जायँगे'—गार्डने सहज भावसे उत्तर दिया।

'आप दूसरा डिब्बा क्यों नहीं लगा देते?'—बापूने प्रश्न किया।

'दूसरा डिब्बा हमारे पास है नहीं; इसीलिये तो आपके लिये डिब्बा खाली करवाया जा रहा है।'

व्यथाभरे शब्दोंमें बापूने उत्तर दिया—'मैं सुखसे बैठूँ और मेरे कारण सुखसे बैठे हुए दूसरे यात्री परेशान हों, यह तो मेरे लिये लज्जाकी बात है। पहले वे सुखसे बैठेंगे, तब मैं। मैं उनके डिब्बेमें जाऊँ, यह कभी नहीं हो सकता।'

गार्डमहोदय बापूके दृढ़ निश्चयको समझ गये। उन्होंने बापूसे क्षमा माँगी। फिर वे बोले—'बापू! मेरे लायक कोई और सेवा हो तो बताइये।'

गाँधीजीने कहा—'आपके लायक सेवा तो है ही। आप मुसाफिरोंको परेशान न करें और उनसे रिश्वत न लें। यदि आप इतना करेंगे तो यह मेरी सेवा करनेके ही बराबर होगा।'

(२)

हृदय-परिवर्तन

प्रसिद्ध देशभक्त श्रीजमनालालजी बजाज अपनी सरलता, साधुता, बुद्धिमत्ता, उदारता, कार्यकुशलता आदिके कारण चारों ओर सम्मान पाने लगे। दूसरेकी प्रतिष्ठा देखकर व्यथित होनेवाले लोग समाजमें कम नहीं होते। एक महाशय उनके कटु आलोचक बन गये। श्रीबजाजजीको इस बातका परिचय मिल गया। उन्होंने प्रयत्न किया कि उनकी कटुता कुछ कम हो, पर आलोचक महोदय अपने स्वभावसे लाचार थे। वे साधुताका प्रतिदान और अधिक कटुताके रूपमें देने लगे। संयोगकी बात, आलोचक महोदय सख्त बीमार हो गये। श्रीजमनालालजी बजाजको इसकी खबर मिली। वे उनका कुशल-क्षेम जाननेके लिये उनके पास पहुँचे। उस समय उनकी अवस्था कुछ ठीक थी, पर वे बड़े ही उदास एवं दुखी थे। उन्हें इस प्रकार देखकर श्रीबजाजजीने पूछा—'क्यों भाई! इतने उदास और दुखी क्यों हो?'

आलोचक महोदय बोले—'मैं तुमसे नाराज हूँ।'

'तो भाई! यह नाराजगी कैसे दूर हो सकती है?'—श्रीबजाजजीने तुरंत प्रश्न किया।

'मैंने तुम्हारे खिलाफ एक पुस्तक लिखी है। मैं उसे छपवाना चाहता हूँ, पर मेरे पास पैसे नहीं हैं। यदि वह पुस्तक छप जाय तो मेरे हृदयको कुछ शान्ति मिले।' आलोचकने अपने मनकी बात कह डाली।

'उसे छपवानेमें कुल कितना खर्च लगेगा?'—श्रीबजाजजीने पूछा।

'करीब पाँच सौ रुपये'—आलोचकने उत्तर दिया।

'ठीक है, भैया! प्रसन्न रहना, बीमारीसे घबराना मत; भगवान्का स्मरण करना'—यह कहते हुए श्रीबजाजजीने विदा ली।

घर पहुँचकर श्रीबजाजजीने एक लिफाफेमें पाँच सौ रुपये रखे, उसे गोंदसे चिपकाया और अपने पुत्रको बुलाकर कहा—'अमुक अस्पतालमें अमुक बेडपर ये सज्जन हैं। उन्हें जाकर यह लिफाफा दे आओ।'

पुत्रने पिताकी आज्ञाका पालन किया। आलोचकने लिफाफा खोला। पाँच सौ रुपये देखते ही वे सन्न रह गये। उनका हृदय भर आया और वर्षोंकी कटुता नेत्रोंसे टपक पड़ी।

(३)

ईमानदारी आज भी कायम है

गत नवम्बर मासकी बात है। कूचविहार जिलेके निवासी श्रीगोपीनाथ मैत्रकी भूमि सरकारने अधिगृहीत कर ली। भूमिके एवजमें एक हजार रुपये उन्हें देनेका आदेश हुआ। रुपये लेनेके लिये श्रीमैत्र जलपाईगुड़ीके जिलाधिकारी महोदयके कार्यालयमें उपस्थित हुए। कैशियरने आदेश देखकर श्रीमैत्रको रुपयोंका भुगतान कर दिया; किंतु संयोगकी बात—दस रुपयेके सौ नोटोंका बण्डल देनेके स्थानपर कैशियरने भूलसे सौ रुपयेके सौ नोटवाला बण्डल श्रीमैत्रको दे दिया। इसपर मजेकी बात यह कि बण्डल देते हुए उन्होंने श्रीमैत्रसे कहा—'ठीकसे गिनकर ले जाना।' श्रीमैत्रने वहीं बैठकर नोट गिने—पूरे १०० नोट थे। कैशियर एवं श्रीमैत्र—दोनोंको मतिभ्रम हो गया; दोनोंको ही भूल समझमें नहीं आयी।

रुपये लेकर श्रीमैत्र घर आये। अपने लड़कोंके सामने जब उन्होंने रुपये गिने, तब उन्हें होश आया कि ये तो सौ रुपयेके १०० नोट हैं और इस प्रकार एक हजारके बदले वे दस हजार रुपये ले आये हैं। अब तो श्रीमैत्र बेचैन हो गये। वे पछताने लगे—'एक हजारके बदले मैंने दूसरेके दस हजार रुपये कैसे स्वीकार कर लिये!'

पिताकी व्यथाको देखकर बच्चोंने उन्हें समझाया—'नौ हजार रुपये आप वापस कर आइये।' बच्चोंकी बातसे पिताको संतोष हुआ। बड़े लड़केने टेलीफोन दफ्तरमें जाकर जल्पाईगुड़ीके उपायुक्तको फोनपर यह घटना बतायी। श्रीउपायुक्त महोदयने विभागीय कर्मचारीको हल्दीवाड़ी भेजा। वहाँके थानेके अधिकारियोंके सामने श्रीमैत्रने विभागीय व्यक्तिको नौ हजार रुपये लौटा दिये।

थानेके अधिकारी तथा उपस्थित सभी व्यक्तियोंने एक स्वरमें कहा—'ईमानदारी आज भी कायम है!'

(४)

'मैं नींवका पत्थर बना रहना चाहता हूँ'

श्रीलालबहादुर शास्त्री सामाजिक जीवनमें प्रवेश करनेके कुछ दिन पश्चात् इलाहाबादके 'लोक-सेवा-मण्डल'के सदस्य बने। सादी वेश-भूषा, पैरोंमें देशी जूते, स्वल्प भाषण, हँसमुख स्वभाव, अद्भुत कार्यकुशलता, निःस्वार्थ सेवा-भावना—इनके ये गुण सभीको प्रभावित करने लगे। पर ज्यों-ज्यों ख्याति बढ़ने लगी, त्यों-त्यों श्रीशास्त्रीजी संकोचका अनुभव करने लगे। वे बराबर यह प्रयत्न करने लगे कि समाचार-पत्रोंमें उनकी सेवाओंका विवरण तथा नाम न छपे।

एक दिन मित्रोंने श्रीशास्त्रीजीको घेर लिया और बड़े ही आग्रहसे पूछा—'शास्त्रीजी! आपको अखबारोंमें नाम छपनेसे इतना परहेज क्यों है?'

श्रीशास्त्रीजीके सामने धर्मसंकट उपस्थित हो गया। कुछ देर सोच-विचारकर बड़ी ही विनम्रताके साथ वे बोले—''लाला लाजपतरायजीने 'लोक-सेवा-मण्डल'के कार्यके लिये दीक्षा देते हुए यह कहा था—'लालबहादुर! ताजमहलमें दो प्रकारके पत्थर लगे हैं—एक बढ़िया संगमरमर। उन्हीं पत्थरोंके मेहराब और गुम्बज बने हैं। उनमें ही बड़ी सुन्दर जालियाँ काटी गयी हैं; मीनाकारी और पच्चीकारी की गयी है। उन्हींसे रंग-बिरंगे बेल-बूटे बनाये गये हैं। दुनिया उनको देखती है और मुग्ध हो जाती है तथा प्रशंसा करती है। दूसरे पत्थर हैं—टेढ़े-मेढ़े-बेढंगे; वे सब बुनियादमें दबे पड़े हैं। उनकी किस्मतमें केवल अन्धकार और बुनियादकी घुटन है। उनकी कोई प्रशंसा नहीं करता, लेकिन उन्हीं नींवके पत्थरोंपर ताजमहलकी विश्वविख्यात इमारत खड़ी है। मैं चाहता हूँ—'लोक-सेवा-मण्डल' सदस्य नींवके पत्थर बनें। वे सस्ते आत्म-विज्ञापनसे अपनेको बचाये रखें और ठोस-कार्यकी ओर अधिक ध्यान दें।' पूज्य लालाजीके वे शब्द मेरे हृदयमें पैठे हुए हैं और आज भी रह-रहकर मुझे अपने कर्तव्यका ज्ञान कराते हैं। मुझे क्षमा करें, मैं नींवका पत्थर बना रहना चाहता हूँ!''

(५)

सहृदयता

''नमस्ते महाशयजी!—एक अपरिचित व्यक्तिके मुखसे बड़ी अदबके साथ ये शब्द सुनकर 'बेदिल' साहब कुछ चौंके और उन्होंने उन सज्जनसे पूछा—'कहिये जनाब, मैंने आपको पहचाना नहीं!'' 'बेदिल' साहब बीकानेरनिवासी अवकाश-प्राप्त जज एवं प्रसिद्ध शायर थे। काफी वृद्ध हो गये थे; यात्रा करना उनके लिये कठिन

हो गया था; परंतु कतिपय मित्रोंके आग्रहके कारण एक मुशायरेमें उन्हें भाग लेनेके लिये जयपुर जाना पड़ा था और बीकानेर लौटनेके लिये प्लेटफार्मपर वे गाड़ीकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

'बेदिल' साहबके प्रश्नको सुनकर आगन्तुक सज्जनको अपना मन्तव्य प्रकट करनेमें सरलता हुई। उन्होंने निःसंकोच अपनी बात कह दी—"मैं पुलिसविभागका एक कर्मचारी हूँ तथा बड़ा ही निर्धन हूँ। मुझपर झूठा आरोप लगा है और मेरी नौकरी जानेवाली है। कल मुशायरेमें पता चला कि स्थानीय डी० आई० जी० पुलिससे आपकी मैत्री है। आप कृपा करके उन्हें मेरे लिये दो शब्द कह दें तो मेरी नौकरी बच जायगी; अन्यथा बेकार होनेपर मेरे बच्चे भूखों मर जायँगे।"

'बेदिल' साहबने उन्हें समझाया—"मेरी आपके प्रति पूरी सहानुभूति है, पर भाई! मैं बूढ़ा व्यक्ति हूँ। गाड़ीमें मेरी सीट भी बुक हो गयी है। आजकल यात्राकी परेशानी आप जानते ही होंगे। वैसे भी मेरे लिये आना-जाना बहुत कठिन है, और·····।"

अपना काम न बनता देखकर आगन्तुक सज्जन गिड़गिड़ाने लगे। उनकी आँखोंमें आँसू भर आये; उन्होंने पुनः प्रार्थना की—"महाशयजी! मैं आपका नाम सुनकर आया हूँ। सभी कहते हैं कि आप बड़े सहृदय और दयालु हैं; भलाई करना ही आपका स्वभाव है। यदि आपने रहम न की तो मेरा तथा मेरे बच्चोंका जीवन रहना कठिन हो जायगा।"

'बेदिल' साहबका शायर-दिल पसीज गया। उन्होंने कुलीको अपना सामान प्लेटफार्मसे बाहर करनेका आदेश दिया और टिकट वापस कर दी।

वे डी० आई० जी० पुलिसके पास गये और सारी बात बताकर बोले—"अमुक व्यक्ति बहुत गरीब है। यदि यह बेगुनाह हो तो उसे माफ कर दीजियेगा। आप स्वयं उसके केसकी जाँच करवाइयेगा।"

केसकी अच्छी तरह जाँच हुई; वह निर्दोष साबित हुआ।

(६)

'उपाधि'—'व्याधि'

बात सन् १९६५ की है। हमारे परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार श्रीकृष्ण-जन्मभूमिपर बन रहे विशाल 'भागवत-भवन' का शिलान्यास करनेके लिये मथुरा गये हुए थे। वृन्दावनकी नगरपालिकाके अध्यक्षके आग्रहपर वे २१ फरवरीको सायंकाल ६ बजे नगरपालिकाके सभामण्डप (मीटिंग हाल) में प्रवचन करनेके लिये पधारे। किंतु वहाँ जाकर देखते क्या हैं कि उनके अभिनन्दनकी तैयारी है। पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज आयोजनके अध्यक्षके रूपमें विराजमान हैं।

श्रीभाईजी बड़े ही संकोचमें पड़ गये। उन्होंने सबसे हाथ जोड़कर अनुनय-विनय की—"आप कृपा करके यह आयोजन न करें। मैंने आजतक कभी ऐसे आयोजनोंमें भाग नहीं लिया। मैं तो सर्वथा अयोग्य हूँ; जीवन त्रुटियोंसे ही भरा हुआ है, पर जीवनके आरम्भसे ही लोकमान्यता पीछे लग गयी। भगवत्कृपासे मन सदा उससे डरता रहा; उसने कभी उसे स्वीकार नहीं किया। किंतु ज्यों-ज्यों मैंने उससे दूर भागनेका प्रयत्न किया, वह और भी अधिक आकर्षक रूपोंमें पीछा करती रही। गोरखपुर आनेपर तो उसने अपना प्रभाव और भी तीव्र कर दिया। उसका आरम्भ हुआ **'रायसाहबी'** की पदवीसे। इस पदवीके प्रस्तावक थे—गोरखपुरके तत्कालीन कलेक्टर—पेडले साहब और बाबू श्रीआद्याप्रसादजी—नगरपालिकाके अध्यक्ष। मैंने उनसे हाथ जोड़कर क्षमा माँग ली—"मैं इसके लायक नहीं हूँ।' दोनोंसे ही बड़ा स्नेहका सम्बन्ध था। वे मेरे मनोभावको समझ गये और इस प्रकार इस प्रलोभनसे छुट्टी मिल गयी। इसके बाद वहाँके अंग्रेज कमिश्नर होबर्ट साहबने **'रायबहादुर'** बनानेकी इच्छा प्रकट की। अनुरोध करनेपर वे भी मान गये। फिर संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) के गवर्नर सर हैरी हेग ने **'सर'** (Knight Hood) का जाल फेंका; पर भगवान्ने रक्षा कर ली। गवर्नर साहबने इसपर प्रसन्नता व्यक्त की। मेरी सर हैरी हेगसे मैत्री थी। मैं उनसे मिला। उनसे बड़ा खुला सम्बन्ध था। मैंने बिना किसी प्रकारकी झिझकके उनसे पूछा—'आप यह उपाधि देकर क्या समझते हैं?' गवर्नर साहबने हँसते हुए जवाब दिया—'कुत्तेके गलेमें पट्टा डालते हैं···।' वे अपना कथन पूरा कर ही न पाये थे कि मैं बीचमें ही बोल उठा—'फिर आप मेरे गलेमें पट्टा डाल रहे थे!' गवर्नर साहब हँसकर बोले—'आपने अस्वीकार कर दिया तब हम यह कहते हैं, नहीं तो हम आपका सम्मान करते, आपको धन्यवाद देते कि आपने इसे स्वीकार कर लिया।'

'इसके बाद सबसे बड़ा प्रलोभन **'भारतरत्न'** की उपाधिका आया। सम्मान्य पण्डित श्रीगोविन्दवल्लभजी पंतसे मेरा बहुत ही प्यारभरा पुराना परिचय था। शरीर छोड़नेके कुछ पहलेकी बात है—वे गोरखपुर पधारे। उन दिनों वे

भारतके गृह-मन्त्री थे। मैं उनसे मिलनेके लिये गया। बड़ी ही आत्मीयतापूर्ण बातें हुईं। इसी बीच श्रीपंतजीने एक कागज निकालकर मेरे सामने रखा और कहा—'हम इसे भारत-सरकारके पास भेज रहे हैं; आपकी स्वीकृति लेने आया हूँ। कागजमें '**भारतरत्न**' की उपाधि प्रदान करनेका प्रस्ताव था। मैं काँप गया। भगवान्‌ने रक्षा की। मैंने बड़े ही विनम्र शब्दोंमें श्रीपंतजीको इसके कारण विस्तारसे समझाये। मेरे अन्तर्हृदयकी व्यथाको देखकर श्रीपंतजी मान गये और बोले—'ठीक है, हम आपकी भावनाओंका आदर करेंगे।' इसके पश्चात् उन्होंने दिल्ली जाकर मुझे एक लंबा पत्र लिखा। उसकी बातें बतानेमें मुझे संकोच है।

"इसी प्रकार धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्रोंसे भी बड़े ही लुभावने प्रलोभन आये, पर भगवत्कृपाने 'उपाधि' की 'व्याधि' से सदा मेरी रक्षा की। सचमुच यह शरीर तो व्याधियोंका ही घर है; फिर स्वेच्छासे नयी 'व्याधि' क्यों स्वीकार की जाय ?"

श्रीभाईजीके इस दैन्यभरे निवेदनको सुनकर अभिनन्दनका वह रूप नहीं रखा गया। फिर भी श्रीभाईजीके प्रवचनके पूर्व नगरपालिकाके अध्यक्षने उनके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें कहीं और अन्तमें बोले—'विनयकी तो मानो श्रीभाईजी मूर्ति हैं!'

अध्यक्षके भाषणके पश्चात् श्रीभाईजीका प्रवचन आरम्भ हुआ। श्रीभाईजीने वन्दनाका श्लोक बोलकर कहा—"यहाँ उपस्थित आप सब व्रजवासी महानुभाव, जिनकी चरण-रजका लाभ लेनेका भी मैं अधिकारी नहीं, नीचे बैठे हैं और मैं यहाँ स्टेजपर बैठ गया हूँ—वर्तमान प्रथा ही ऐसी है।

"मैं यहाँ व्रजमें किसी भावको लेकर आता हूँ। मेरे लिये वृन्दावनका प्रत्येक परमाणु आदरणीय-वन्दनीय है।

"मैंने 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने तथा स्वीकार करनेका विरोध किया है। सम्भव है, मेरी यह चेष्टा अधिक मान पानेका प्रयास हो। मनुष्यके अंदर एक छिपी कामना होती है—मान और बड़ाई पानेकी। बहुत बड़े-बड़े त्यागी-महात्मा, जो जगत्‌के समस्त पदार्थोंका त्याग कर चुकते हैं, उनमें भी न कहनेपर, न चाहनेपर, अपितु मना करनेपर भी मान-बड़ाईकी अभिलाषा छिपे रूपमें रहती है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्द हैं—'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।' मैंने अभिनन्दन-पत्रके लिये विरोध किया, इसके बदलेमें मानके और शब्द सुननेको मिले! इनसे चित्तमें प्रसन्नता नहीं हुई होगी, यह अन्तर्यामी प्रभु ही जानता है। आप सब आशीर्वाद दें—यह मान चाहनेका, बड़ाई चाहनेका मनोरथ आप सबके आशीर्वादसे दूर हो जाय तथा जैसे पुष्पोंकी माला पहननेमें सुख-प्रसन्नता होती है, वैसे ही जूतोंकी माला पहननेमें भी सुख-प्रसन्नताकी अनुभूति हो!

"महाभारतकी कथा है, जिसका सार यह है—'बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती; बड़ोंके मुँहपर उनकी निन्दा कर देना उनकी हत्या है तथा अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना या अपने कानोंसे अपनी प्रशंसा सुनना आत्महत्या है।'

"यदि मान-बड़ाईकी चर्चा सुनना मीठा न लगता तो पूजनीय श्रीब्रह्मचारीजी महाराज आज्ञा ही नहीं देते कि 'मैं चुपचाप सब स्वीकार करता रहूँ।' वास्तवमें मेरी निर्बलता ही इसमें हेतु है।

"आपलोगोंने जो कुछ कहा, मैं उसे अपनी भावनाके अनुसार अपने लिये आशीर्वाद मानता हूँ। आप श्रीकृष्णके हैं।"

उपस्थित सभी श्रोता—जिनमें संत-महात्मा, विद्वान् भी थे, श्रीभाईजीके अन्तर्हृदयका परिचय प्राप्तकर मुग्ध हो गये।

प्रवचनके पश्चात् श्रीभाईजी सभा-मण्डपके बाहर आ रहे थे कि एक वृद्ध महात्मा सामने उपस्थित हुए। श्रीभाईजीने दोनों हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। वृद्ध महात्मा बड़े भावभरे शब्दोंमें बोले—"महाशयजी! मैं वर्षोंसे 'कल्याण' पढ़ता हूँ और उसका मेरे जीवनमें बड़ा ही अद्भुत प्रभाव हुआ है। आपके दर्शन मैं आज प्रथम बार कर रहा हूँ। मेरे मनमें बराबर यह प्रश्न उठता था कि अन्य मासिक पत्रोंकी भाँति 'कल्याण' भी एक पत्र है; किंतु उसका इतना चमत्कारिक प्रभाव क्यों है? वह बरबस जीवनमें कैसे परिवर्तन लाता है और हृदयको भगवद्विश्वास, भगवत्प्रेम आदिसे भर देता है? आज आपका प्रवचन सुनकर—आपका जीवन-व्यवहार देखकर मेरा समाधान हो गया कि उसके सम्पादक—कर्णधार नाम-रूपके मोहसे कितने दूर हैं; मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे उदासीन ही नहीं, किस प्रकार दूर भागते हैं; उनके व्यवहारमें, क्रियामें सत्य कितने विलक्षण रूपमें ओत-प्रोत है, उनकी कथनी-करनी-रहनीमें कैसी अनूठी एकरूपता है, वे कितने विनयशील हैं……।"

—वृद्ध महात्मा भावमें भरे अपने मनोभाव प्रकट कर रहे थे कि श्रीभाईजीका हृदय ग्लानिसे भर आया, नेत्र गीले हो गये और उन्होंने अपना मस्तक वृद्ध महात्माके चरणोंपर रख दिया!

'कल्याण' का अप्राप्य विशेषाङ्क

'परलोक और पुनर्जन्माङ्क' पुनः प्राप्य

'कल्याण' वर्ष ४३वेंके विशेषाङ्क 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क'की, जो पहले कई वर्षोंसे अप्राप्य था तथा जिसकी अत्यधिक माँग थी, अब थोड़ी-सी प्रतियाँ और तैयार हुई हैं। इस अङ्कमें परलोक एवं पुनर्जन्मसम्बन्धी विविध समस्याओं और पहलुओंपर प्रकाश डालनेवाले तथा परलोक और पुनर्जन्मको सफलतापूर्वक सिद्ध करनेवाले विद्वत्तापूर्ण, शास्त्र-सम्मत लेखों एवं पुनर्जन्मसम्बन्धी रोचक घटनाओंका सुन्दर संकलन है। मूल्य रु० ९.०० (नौ रुपये) मात्र है।

जो इस अङ्कको लेनेके इच्छुक हों, उन सज्जनोंको मनीआर्डरद्वारा शीघ्र मूल्य भेजकर यह अङ्क प्राप्त कर लेना चाहिये; अन्यथा इसकी परिमित संख्यामें बची शेष प्रतियोंके भी समाप्त हो जानेपर 'कल्याण' के अन्य विशेषाङ्कोंकी भाँति इस परम उपादेय अङ्कसे भी प्रेमी पाठकोंको वञ्चित होना पड़ सकता है।

—'कल्याण'-विभाग
गीताप्रेस, गोरखपुर

महाभारत [प्रथम खण्ड]

(आदिपर्व और सभापर्व)

सरल हिंदी-अनुवादसहित, सचित्र, पृष्ठ-संख्या ९६०, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य १३.२५, डाकखर्च ३.१५।

महाभारतका यह खण्ड समाप्त हो गया था, अब पुनः छप गया है। ग्राहकोंको इसे मँगवानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

श्रीमन्महाभारतम्

[मूलमात्रम्, तस्य प्रथमो भागः]

इस खण्डमें आदिपर्व, सभापर्व और वनपर्व सम्मिलित हैं, केवल संस्कृत, सचित्र, पृष्ठ-संख्या ८०४, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ७.००, डाकखर्च २.७०।

यह भाग भी समाप्त हो गया था, अब पुनः छप गया है; अतः जिन्हें आवश्यकता हो, वे शीघ्रता करें।

गीता-परिचय

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

साइज २०×३०=१६ पेजी, सचित्र, पृष्ठ-संख्या २१६, मूल्य .५०, डाकखर्च १.५०

तृतीय संस्करणतक यह पुस्तक 'गीता-ज्ञान-प्रवेशिका' के नामसे प्रकाशित होती रही है। इस चतुर्थ संस्करणमें कुछ आवश्यक संशोधन करके इसे 'गीता-परिचय' नामसे प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तकमें सरल सुबोध भाषामें इन विषयोंका समावेश हुआ है, यथा—गीताके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातें, संस्कृत भाषाका शुद्ध उच्चारण करनेकी विधि, गीताके प्रधान और संक्षिप्त विषय, गीताप्रतिपादित कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोगका स्वरूप, गीतामें उवाच, गीता-श्रवणके समय अर्जुनके द्वारा किये गये अट्ठाईस प्रश्नोंके स्थल, गीताभ्यासकी विधि, गीता कण्ठस्थ रहनेके लिये तालिका, श्रीभगवान्के गीतोक्त चालीस सम्बोधनात्मक नाम और उनके अर्थ, अर्जुनके गीतोक्त बाईस सम्बोधनात्मक नाम और उनके अर्थ, पाठके लिये विश्रामस्थल, गीतामें प्रसङ्गानुसार बार-बार आये हुए श्लोकांश, गीताके फलसहित भगवत्प्राप्तिके उपाय-विषयक लगभग एक तिहाई श्लोकोंकी संख्या, गीतामें ध्यानविषयक श्लोकोंकी संख्या, गीतामें विभिन्न वक्ताओंद्वारा कथित श्लोकोंकी संख्या, गीताके छन्दोंका विवरण, गीतामें आर्ष प्रयोग, मूलगीता तथा गीताकी अकारादिवर्णानुक्रम-सूची। इस प्रकार गीता-शिक्षार्थियोंको गीता समझनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

पंजीकृत सं०—जी० आर०—१३

'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकों तथा कृपालु पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थना

विशेष परिस्थितिवश इस वर्षका विशेषाङ्क लगभग दो मासकी देरीसे २७ फरवरी १९७४को प्रकाशित हुआ। यह समझते हुए कि डेढ़ लाखसे अधिक ग्राहकोंको केवल विशेषाङ्क ही भेजनेमें लगभग डेढ़-पौने दो माहका समय लग जायगा, जिससे 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंको कष्ट होगा; अतः इस वर्ष जनवरी ७४के विशेषाङ्कके साथ ही फरवरी तथा मार्चके साधारण अङ्क भी भेज दिये गये। आशा थी कि अप्रैलका अङ्क भी यथासम्भव शीघ्र—मईके मध्यतक सभी ग्राहकोंकी सेवामें भेज दिया जायगा; परंतु यह सम्भव न हो सका। यद्यपि अप्रैलका अङ्क पहले ही तैयार हो गया था; किंतु पौने दो लाखके लगभग ग्राहकोंको भेजी गयी रजिस्ट्री एवं वी० पी०के रुपये रजिस्टरोंमें चढ़ाने तथा अन्य व्यवस्था-सम्बन्धी कार्योंके कारण विलम्ब होता गया। फिर रेलवे हड़तालसे प्रभावित डाकबंदीके कारण भी अङ्क भेजनेकी तिथि टलती गयी। फलस्वरूप अप्रैलका अङ्क पर्याप्त विलम्बसे—जूनके द्वितीय सप्ताहमें भेजा जा सका। इस प्रकार मईके अङ्कके प्रेषणमें हमारे न चाहनेपर भी स्वाभाविक ही एक मासका विलम्ब हो गया। 'कल्याण'के सभी प्रेमी पाठकों और ग्राहक महानुभावोंसे इस अपरिहार्य एवं अप्रत्याशित विलम्बके लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

यद्यपि अप्रैल एवं मई महीनोंके अङ्क भेजनेमें यथासम्भव सावधानी बरती गयी है; फिर भी किसी हेतुसे किन्हीं सज्जनको दोनों अङ्कोंमेंसे कोई अङ्क न मिला हो तो वे पत्र लिखकर मँगा लेनेकी कृपा करेंगे।

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनानेके सम्बन्धमें नम्र-निवेदन

गत मासके अङ्कमें यह निवेदन किया गया था कि 'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनानेकी योजना पुनः चालू की जा रही है; किंतु इस समय देशकी ही नहीं, विश्वकी स्थिति बड़ी ही जटिल हो रही है और नित्य नयी समस्याएँ उभरती जा रही हैं। वातावरणके इस भीषण प्रभावसे 'कल्याण' भी अछूता नहीं है। परिणामतः इस समय ऐसे अनिवार्य कारण उपस्थित हैं कि आजीवन ग्राहक बनानेकी योजनाको एक बार स्थगित करना पड़ रहा है। यह सूचना अपने कृपालु पाठक-पाठिकाओंको देते हुए हमें बड़े संकोचका अनुभव हो रहा है, पर हमारी विवशता है। प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना है कि वे इसके लिये अन्यथा विचार न करें।

—व्यवस्थापक

'कल्याण'-कार्यालय

पो० गीताप्रेस, गोरखपुर